धर्म

9·5

★

दीवानचन्द

'कुछ दिन और'

आज से ठीक तीन मास पहले मेरे लिये जून प्रसन्नता में आरम्भ हुआ। मेरे पोते राजेन्द्र प्रसाद का विवाह ४ जून को ही था' और उसी के संबन्ध में शान्ति नारायण जी ने ५ जून की सायं के लिये अपने मित्रों को एक पार्टी में आमन्त्रित किया हुआ था। बाहर से संबन्धी कुछ आ चुके थे, कुछ आ रहे थे। घर में अच्छी रौनक थी, और हरेक अपने विचार के अनुसार विवाह के काम में लगा था। विवाह और पार्टी दोनों अच्छी तरह सम्पन्न हुए। ६ जून को मुझे एक पूर्व-स्वीकृति के कारण चण्डीगढ़ जाना था। मैं दोपहर को मेल गाड़ी में जा बैठा। उसी गाड़ी में मेरे दो दामाद, विश्वेश्वरनाथ जी और मुल्कराज जी देहली के लिये बैठे थे। गर्मी बहुत थी। इटावा से इधर ही मैं व्याकुल हो गया, टूंडला से परे तो मैं बेहोश हो गया, और उसी हालत में मेरे दामाद मुझे दिल्ली स्टेशन पर गाड़ी से उतार कर डाक्टर सेन के नर्सिग होम में ले गये। वहाँ रात्रि के ११-३० के करीब मुझे होश आया। यह संभव है कि मेरी बेहोशी लू लगने का परिणाम हो; यह भी संभव है कि मेरे पुराने रोग-बढ़े हुये प्रास्ट्रेट ग्लैंड-के फूट पड़ने का चिन्ह हो। मैं इस रोग में १८-२० वर्ष अपने आप को खींच लाया था; शायद अब संग्राम की समाप्ति का समय आ पहुँचा था। मेरा आपरेशन हुआ; और मैं ३३ दिन नर्सिग होम में पड़ा रहा। वहाँ से आकर कानपुर में उसी स्थिति में रहा। आज से मकान के बाहर भ्रमण के लिये जाना आरम्भ किया है। यहां पढ़ता रहा हूँ; लिखने की हिम्मत आज ही हुई है। सोचता हूं, लिखूं, तो किस विषय पर लिखूं। संभव है कि ६ या ७ जून मेरे जीवन का अन्तिम दिन होता। ऐसा नहीं हुआ; यह परमात्मा की अपार दया है। जीवन के कुछ दिन और जो मिले हैं, वे एक तरह से जीवन का परिशिष्ट हैं। इनमें भी कुछ करना ही होगा। वर्तमान पुस्तक श्रद्धा तथा कर्तव्य के भाव का एक तुच्छ प्रकटन है।

जो कुछ पीछे लिख चुका हूँ , उसका सम्बन्ध प्राय: दार्शनिक विवेचन और धर्म से रहा है। जो कुछ मेरे विचार में वेद और शास्त्र धर्म की बाबत कहते हैं, उसकी व्याख्या करता रहा हूँ। जो कुछ वे, स्पष्ट रूप में 'धर्म' के तत्व और उसके आकारों की बाबत कहते हैं, उसका अध्ययन विशेष रूप में नहीं किया। इस त्रुटि को वर्तमान लेख में पूरा करने का यत्न करूंगा। यह काम भी करने के योग्य हैं। मैंने अनेक वार उपनिषदों के आधार पर धर्म पर व्याख्यान दिये हैं। अब देखता हूँ कि कई उपनिषदों में धर्म शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ। मैं नहीं कह सकता कि कब इस शब्द का प्रयोग आम था और कब आम न था। जो कुछ नये अध्ययन में देखूंगा, उसे पाठकों की भेट कर दूंगा।

६३, छावनी, कानपुर सितम्बर, १, ६६

दीवानचन्द

निवेदन

यह पुस्तक पूज्य लाला जी के जीवन की अन्तिम कृति है। इसका 'वेद और धर्म' शीर्षक लेख उन्होंने प्रारम्भ तो कर दिया था, पर उसे वे पूरा न कर सके। भाई मुंशीराम जी शर्मा ने उसे पूरा कर दिया है। वे लाला जी के अवकाश ग्रहण के पश्चात बराबर उनके साथ रहे हैं और प्रकाशन से पूर्व सभी पुस्तकों को पढ़ते रहे हैं। इस पुस्तक को भी उन्होंने पढ़ा है और प्रूफ भी देखा है। भाई को भाई धन्यवाद कैसे दे ?

आशा है, लाला जी के ग्रन्थों से प्रेम करने वालों को यह पुस्तक भी लाभ-प्रद सिद्ध होगी।

शान्ति नारायण

वेद और धर्म

हमारे साहित्य में जो स्थान वेद का है, वह अन्य किसी ग्रन्थ का नहीं। विश्व भर के साहित्य में भी न केवल प्राचीनता, प्रत्युत सृष्टि विज्ञान की दृष्टि से भी वेद का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन मुक्त कण्ठ से वेद का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं और स्मृतियाँ भी वेद को आदेश और उपदेश के लिये मूर्धन्य स्थान देती हैं। मनु की दृष्टि में वेद सनातन चक्षु है। उसमें जो कुछ कहा गया है, वही धर्म है। उसके विपरीत आचरण करना अधर्म है। गीता शास्त्र के रूप में विधि-निषेध की मर्यादा के लिये वेद की ओर ही संकेत करती है। वेद एक प्रकार से हमारे निखिल ज्ञान-विज्ञान का स्रोत है। उसमें समस्त विद्याओं के बीज हैं। ऐसा परम प्रमाण रूप वेद धर्म के सम्बन्ध में क्या कहता है, इसे समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

वेद चार हैं। महामुनि जैमिनि कवि ने वेद की चतुर्विधा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

तेषां ऋक् यत्र अर्थवशेन पाद व्यवस्था। गीतिषु सामाख्या।
शेषे यजुः शब्दः। निगदो वा चतुर्थम् स्यात् धर्म विशेषात्।

ऋग्वेद में अर्थ की अपेक्षा से पाद–व्यवस्था है। अर्थात् वह गायत्री, त्रिष्टुप, जगती आदि छन्दों में आवद्ध है। ऋग्वेद की ऋचाओं को जब संगीत की तानों में बांधा जाता है, तब उसकी संज्ञा साम हो जाती है। शेष अर्थात् बचे हुए कर्मकाण्ड के मंत्र जो कुछ पद्य में हैं और कुछ गद्य में, यजु कहलाते हैं। जिन मंत्रों में विशेष धर्मों का वर्णन है, उनकी संज्ञा निगद अर्थात् अथर्व है।

इन मंत्रों में धर्म शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है। धर्म में धृ धातु है जिसका अर्थ है धारण करना। अतः जो वस्तु धारण करती है, भूत (प्राणी) और भुवन (लोक) दोनों प्रकार की प्रजा जिससे सत्तावान है, वह धर्म हैं। मंत्रों में जहां–जहां धर्म शब्द आया है, वहां–वहां उसके अन्दर निहित यह धात्वर्थ विद्यमान है।

वेद में पूर्व तथा शाश्वत दो प्रकार के धर्म कहे गये हैं।

पूर्व या प्रथम धर्म—

समिध्यमानः प्रथमानुधर्मा समक्तुभिरज्यते विश्ववारः ।
शोचिष्केशो घृत निर्णिक् पावकः सुयज्ञो अग्निर्यजथाय देवान् । ऋ० ३-१७-१

विश्व भर के लिये वरणीय यह अग्नि प्रथम धर्मों के अनुसार प्रज्वलित की गई है और समिधा आदि के द्वारा भली भांति बढ़ रही है । इसके केश (ज्वालायें) प्रदीप्त हैं । घी के द्वारा चमकी हुई यह पवित्र करने वाली सुन्दर यज्ञाग्नि देवताओं के यजन के लिये है ।

मंत्रगत प्रथम धर्म का क्या अर्थ है ? इसे समझने के लिये नीचे लिखे मंत्र पर विचार करें:—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् १०–९०–१६ देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ किया । वे प्रथम धर्म थे । ऐसा यज्ञ करके ये देव महिमा से सम्पन्न हुए और उस नाक लोक के निवासी बने, जहां पहले के साध्य और देव विद्यमान थे ।

नीचे लिखे मंत्र में भी प्रथम धर्म का वर्णन है :—

वाज्यसि वाजिनेना सुवेनीः सुवितः स्तोमं सुवितो दिवं गाः ।
सुवितो धर्म प्रथमानु सत्या सुवितो देवान् त्सुवितोऽनुपत्म । १०-५६-३

तुम बलवान हो । तुम अपने बल से सुन्दर हो । तुम्हारा स्तोम सुन्दर है । तुम सुन्दर देवलोक को जाओ । तुमने सुन्दर प्रथम धर्म का पालन किया है । तुम सुन्दर देवों को और सत्य को प्राप्त करो ।

इन मन्त्रों में प्रथम धर्म का अर्थ वे सूक्ष्म नियम हैं जो स्थूल द्रव्यमय यज्ञ से पहले क्रियाशील थे । सृष्टि की रचना में सूक्ष्म से स्थूल की ओर आने का नियम है । यज्ञ दोनों ही स्थानों पर है, परन्तु प्रथम धर्म में यज्ञ से यज्ञ होता है, द्वितीय में हवि आदि स्थूल सामग्री द्वारा । दोनों के मूल में सर्वहुत यज्ञ पुरुष है और जो देव सृष्टि-रचना में भाग लेते हैं, वे उसी का अनुसरण करते हैं । प्रथम धर्म में इस आधार पर हम भाव-यज्ञ, रचना यज्ञ और ज्ञानयज्ञ की गणना करेंगे । कालयज्ञ की ओर भी पुरुष सूक्त ने संकेत किया है जिसमें बसन्त को घी, ग्रीष्म को इन्धन और शरद को हवि का रूप दिया गया है ।

जब सृष्टि बन जाती है, तो सूर्य, चंद्र आदि साकार प्राकृत देव भी उसी प्रथम धर्म का अनुसरण करते हुए यज्ञकार्य में संलग्न हो जाते हैं और प्राणियों के

शरीरों में अपने अंशों द्वारा अवतरित होकर यज्ञ के उसी स्वरूप को संचालित करने लगते हैं ।

नीचे लिखे मंत्र में सनातन अथवा शाश्वत धर्मो का वर्णन है :—

वैश्वानराय पृथुपाजसे विपो रत्ना विधन्त धरुणेषु गातवे ।
अग्निर्हि देवाँ अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनता न दूदुषत् । ३–३–१

धारण करने वाले मार्गों में जाने के लिये अत्यन्त गतिशीत वैश्वानर के लिये रमणीय स्तोत्र गाये जा रहे हैं । यह अमृताग्नि वैश्वानर देवों की सेवा करता है । इसीलिये सनानत धर्म दूषित नहीं हो पाते । वे ज्यों के त्यों निर्मल बने रहते है ।

प्रथम धर्म ही शाश्वत धर्म का रूप धारण कर लेते हैं । पूर्वकाल में जिन धारक नियमों का प्रचार था, वे आगे चलकर परम्परा का निर्माण करते हैं । उनकी एक श्रृंखला चल पड़ती है । प्रथम धर्म के पालक देव थे । परम्परा में श्रृंखला की एक-एक कड़ी बने हुए जो याजक इन धर्मो को आगे बढ़ाते हैं, वे मानों उन्हें जीवन्त रूप प्रदान करते हैं । सर्वज्ञ एवं सर्व व्याप्त प्रभु अपनी रचना में इस श्रृंखला को समाप्त नहीं होने देते । इसीलिये ये धर्म शाश्वत कहलाते हैं । प्रलय में समग्र रचना ही प्रभु में लीन हो जाती है । यज्ञ का कार्य प्रत्यक्ष से परोक्ष हो जाता है और किसी अन्य सृष्टि में वह प्रत्यक्ष एवं आविर्भूत हो उठता हैं ।

प्रलय के पश्चात यज्ञ का वही रूप पुनः चल पड़ता है । वेद ने अग्नि को सृष्टि रूपी यज्ञ का होता कहा है । वेंद के आधार पर महर्षि यास्क ने अग्नि के तीन रूप माने हैं—मित्र, वरुण और अग्नि । मित्र अर्थात् सूर्य द्यौ स्थानीय है । वरुण अर्थात् विद्युत अन्तरिक्ष स्थानीय है । अग्नि पृथ्वी स्थानीय है । रचना में सूर्य और विद्युत पार्थिव अग्नि के पूर्वज हैं । प्रत्येक सन्तति अपने पूर्वजों के धर्म का अनुकरण करती है । परम्परा का निर्माण इसी पद्धति पर होता है और धर्म का रूप अग्रसर होता रहता है । नीचे लिखे मंत्र में इसी तथ्य का प्रतिपादन हुआ है :—

यस्त्वद् होता पूर्वो अग्ने यजीयान् द्विता च सत्ता स्वधया च शंभुः ।
तस्यानु धर्म प्रयजा चिकित्वो अथानोधा अध्वरं देववीतौ । ३–१७–५

हे अग्नि । तुमसे जो पूर्व का होता है और जो दो प्रकार की सत्ताओं में अपनी शक्ति के साथ कल्याणकारी रूप में वर्तमान है, उसी के धर्म का अनुसरण करते हुए तुम यज्ञ करो । तुम विद्वान हो । दिव्यता के विशिष्ट पथ में हमारे अध्वर को धारण करो ।

अग्नि का पूर्वज सूर्य यज्ञ कर रहा है । यही उसका धर्म है । इस धर्म से वह कभी विचलित नहीं होता । पुरुषसूक्त में उसे देवताओं का अग्रज, पुरोहित और

इसीलिए अपनों के लिये तपने वाला कहा गया है। उसे ब्राह्मीकान्ति, भर्ग अथवा प्रकाश इसी आधार पर प्राप्त होता है। अग्रज यदि इस धर्म का पालन नहीं करेगा, तो वह अपनी प्रतिष्ठा तथा सत्ता से हाथ धो बैठेगा। सूर्य के उपरान्त अन्तरिक्ष स्थित विद्युत भी इसी यज्ञकार्य को सम्पादित करती है। पार्थिव अग्नि भी इसी प्रकार के यज्ञ का होता बनता है।

सूर्य के धर्म का वर्णन नीचे लिखे मंत्र में है :—

ते हि द्यावा पृथिवी विश्व शंभुव ऋतावरी रजसो धारयत् कवी।
सुजन्मनी धिषणे अन्तरीयते देवो देवी धर्मणा सूर्यः शुचिः। १/१६०/१

पवित्र और दिव्यगुण सम्पन्न सूर्य धर्म के द्वारा द्यावा और पृथ्वी के बीच में विश्व को शान्ति देने वाले लोकों को धारण करता हुआ चल रहा है।

नीचे लिखे मंत्र को भी सूर्य पर घटाया जा सकता है :।

इस मंत्र में इन्द्र शब्द आया है जिसके कई अर्थ हैं। इन्द्र मन है। इन्द्र आत्मा है। इन्द्र सूर्य भी है। गणित में जैसे अ कई संख्याओं का वाचक है, वैसे ही वेद के इन्द्र आदि शब्द कई अर्थों के वाचक है—

इन्द्र ऋभुमान् वाजवान् मत्स्वेह नोऽस्मिन्त्सवने शच्या पुरुष्टुत।
इमानि तुभ्यं स्वसराणि येमिरे व्रता देवानां मनुषश्च धर्मभिः। ३/६०/६

हे इन्द्र! हे सूर्य! तुम गतिशील हो, बलवान हो। हमारे इस यज्ञ में तुम अपनी शक्ति (प्रभा) के साथ आकर आनन्द प्राप्त करो। मानव जिन यज्ञों की रचना करता है, वे सूर्य तक पहुंचते हैं। हमारे इन यज्ञों द्वारा सूर्य प्रसन्न होता है और हमको भी प्रसन्न करता है। भगवद्गीता के शब्दों में यज्ञ द्वारा हम देवों को भावित करते हैं और बदले में देव हमें भावित करते हैं। सूर्य के व्रत अर्थात धर्म के अनुसार ही वायु, पृथ्वी आदि देवों के व्रत भी चलते हैं। जो मानव इन व्रतों और धर्मों का पालन करते हैं वे मानों सूर्य की ओर जा रहे हैं। देवताओं के व्रत अपने आप चलते हैं। उन्हें कोई निर्देश या प्रेरणा नहीं देता। मनुष्यों को निर्देशों की आवश्यकता पड़ती है। पर जो इन निर्देशों के पालन में निष्ठा पूर्वक लग जाते हैं, उनके अन्दर दिव्यता का संचार असंदिग्ध रूप में होने लगता है।

इस मंत्र में धर्म शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। वैसे वेद में धर्म शब्द का प्रयोग एक वचन में भी हुआ है। जहां एक वचन का प्रयोग है, वहाँ धर्म के आगे कोई अपवाद स्वीकार नहीं किया गया। बहुवचन में अपवाद आ सकते हैं और यह

कहा जा सकता है कि धर्म के रूप अनेक हैं। मनुष्यों के सम्बन्ध में तो यह निर्विवाद कहा जा सकता है, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न स्थितियों में कार्य करते हैं। विद्यार्थी का धर्म व्यापारी के धर्म से भिन्न है। क्षत्रिय का धर्म ब्राह्मण-धर्म से भिन्न है। अतः धर्म शब्द का बहुवचन में प्रयोग समीचीन है।

नीचे लिखे मंत्रों में भी धर्म शब्द का प्रयोग बहुवचन में हुआ है :—

समिधानः सहस्रजिदग्ने धर्माणि पुष्यसि।
देवानां दूत उक्थ्यः। ५–२६–६

हे अग्नि! तुम सहस्रजित हो। प्रज्वलित होकर तुम धर्मों को पुष्ट करते हो और देवताओं के प्रशंसनीय दूत हो।

अग्निधर्म से समवेत व्यक्ति ही विजयी बनते हैं और एकाकी होते हुए भी सहस्रों को पराजित कर देते हैं। जिसके अन्दर आग्नेयता प्रज्वलित है, जो भस्मवत् दीन, पददलित तथा निष्प्रभ नहीं है, वही धर्मों, कर्तव्यों, नियमों, व्रतों आदि का पालन-पोषण कर सकता है और वही दिव्यता का संदेश अन्यों तक पहुंचा सकता है।

उत यासि सवितः त्रीणि रोचना उत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि।
उत रात्री मुभयतः परीयसे उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः। ५–८१–४

हे सविता! तुम तीनों लोकों में जाते हो। तुम सूर्य की रश्मियों के साथ एक होते हो। तुम रात्रि के दोनों ओर घेरा डालते हो और हे देव! तुम धर्मों के द्वारा मित्र बनते हो।

जब सूर्य की रश्मियाँ फैलती हैं, तो एक सैकंड में ८६ हजार मील की गति से चलकर वे पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्यौलोक तक अल्पकाल में ही पहुँच जाती हैं। किरणें क्या जा रही हैं मानों उनके साथ सम्पूर्ण सूर्य ही जा रहा है और सबको प्राप्त हो रहा है। यह सूर्य रात्रि के पूर्व तथा पश्चात दोनों ओर वर्तमान है और जो आदि तथा अन्त में है, वह मध्य में भी है। इस कथन के अनुसार सूर्य का प्रकाश हमारे साथ सदैव विद्यमान रहता हैं। वह हमारा परित्याग नहीं करता। चाहे जैसा सघन से सघन अंधकार हो, वह सूर्य नहीं, तो सूर्य के प्रतिनिधि चंद्र, विद्युद्दीप, लालटेन आदि के द्वारा भग्न होता ही रहता है। यह सूर्य धर्मों द्वारा मित्र बनता है। तपस्वी तप द्वारा इसे अपनाते हैं। भक्त उपासना द्वारा इसे अपनाते हैं, इसके वरणीय भर्ग को धारण करते हैं। कर्मकाण्डी इष्टा पूर्त तथा यज्ञों, सवनों द्वारा सूर्य के सखाभाव को प्राप्त करते हैं। एक नहीं, ऐसे विविध धर्म हैं, यज्ञानुष्ठान हैं, कर्त्तव्य कर्म हैं जो साधक को सूर्य के सखित्व में पहुँचा देते हैं।

यस्मै विष्णुस्त्रीणि पदा विचक्रम उप मित्रस्य धर्मभिः। ८-५२-३

मित्र के प्रति मित्र के एक नहीं, अनेक करणीय धर्म हैं। मित्र को मित्र का साथ देना है—संपत्ति में भी और विपत्ति में भी। मित्र मित्र को सद्धर्म पर चलाता है और अधर्म से रोकता है। वैसे तो कुछ पग चलकर साथ देने से ही मैत्री हो जाती है, पर तीन पैर रखना, तीनों लोकों में साथ देना, शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में सहयोग करना ऐसा प्रयोग है जो मित्र को विष्णुपद प्रदान करने की शक्ति रखता है, उसे वास्तविक अर्थों में व्यापकता देता है, पल-पल तथा स्थान-स्थान में साथी बनाता है।

विशां राजानमद्भु तं अध्यक्षं धर्मणामिमम्।
अग्निमीले स उ श्रवत्। ८—४३—२४

अग्नि देव! सुनो तो। में तुम्हारी स्तुति कर रहा हूं। तुम प्रजाओं के राजा हो, और धर्मों के अद्भुत अध्यक्ष हो।

यहाँ अग्नि राजा है। धर्म-मर्यादा-पालन पर उसी की दृष्टि रहती है। प्रजा का अंग-अंग अपने धर्मों, कर्तव्यों पर दृढ़ रहे—यह तभी संभव है जब राजा का शासन दण्ड निरन्तर जागरूक बना रहे। अध्यक्ष का अर्थ है, जिसकी आंख सबके ऊपर रहे, जो सबको देखता रहे। यदि हम सदैव अनुभव करते रहें कि कोई हमें देख रहा है, हमारे कर्मों पर किसी की दष्टि है, तो हम अधर्म से बचे रह सकते हैं और धर्म का पालन करके सामाजिक मर्यादा को तो सुरक्षित रखते ही हैं, साथ ही अपना भी कल्याण-साधन करते हैं।

वृषा सोम द्युमाँ असि, वृषादेव वृषव्रतः।
वृषा धर्माणि दधिसे। ९—६४—१

सोम! तुम वृषा हो, बलवान हो और इसी हेतु चमक रहे हो, द्युतिमान हो। हे देव! तुम बलवान हो, इसीलिये तुम्हारे व्रत भी बलवान हैं, अधर्षणीय हैं। तुम बलवान हो, इसीलिये तुम धर्मों को धारण करते हो।

बलवत्ता चमक पैदा करती है। निर्बल निस्तेज होते हैं। जो शक्तिशाली है, वही अपनी तथा दूसरों की अभिलाषाओं को पूर्ण कर सकता है। बलवान के हाथ में ही धर्म की ध्वजा स्थिर होकर फहराती है। निर्बलता, दीनता तथा अशक्तता तो मानव को कर्तव्य पथ से, धर्ममार्ग से च्युत कर देती है। कायर न कर्म कर सकता है, न वीर्यवान बन सकता है और न स्वरूपवान ही हो सकता है।

विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभोस्ते सतः परियन्ति केतवः ।
व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजति । ९-८६-५

हे विश्वचक्ष ! तुम विश्व भर को देख रहे हो । तुम प्रभु अर्थात् स्वामी हो । तुम ऋभु या दीप्तिमान हो । तुम्हारे ध्वजा-पट, तुम्हारा ज्ञान कराने वाले ज्ञापक केतु समस्त लोकों के चतुर्दिक फहरा रहे हैं । तुम व्यापक हो और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों के धर्मों से ही द्रवित होते हो, ढरते हो, उन पर कृपा की वर्षा करते हो । तुम समस्त भुवन के पालक रूप में चमक रहे हो' ।

सोम पवमान की दया प्राप्त करनी है, उन्हें अपनी ओर द्रवित करना है, तो धर्मों, नियमों, कर्तव्यों का पालन करो । सोमदेव सतत जागरित रूप में सब की गति विधि को देख रहे हैं ।

इन्दुर्धर्माणि ऋतुथा वसानो दश क्षिपो अव्यत सानोअव्ये । ९-९७-१२

इन्दु' अर्थात् सोमदेव ऋतुओं के अनुकूल धर्मों को धारण करते हैं । दश दिशायें उन्हें अक्षय शिखर पर सुरक्षित रखती हैं । चंद्र कितने दिनों से हमारे आह्लाद का कारण बना हुआ है । वह कब से आकाश के ऊंचे शिखर पर सुरक्षित है ! इसकी सुरक्षित स्थिति का एक ही कारण है कि यह ऋतुओं के अनुकूल अपने धर्मों को धारण करता है । समय आने पर यही ओषधियों में रस डालता है, उनके पत्तों, फूलों और फलों को सरस, हरे-भरे, सुन्दर और विविध प्रकार के रंगों से संयुक्त करता है । शरद ऋतु की पीयूषवर्षिणी पूर्णिमा का जनक चंद्र ही है । वासन्ती वैभव तथा ग्रीष्म काल की खुले मैदानों में छिटकती चांदनी ने किसे आकर्षित नहीं किया ? सोमलता के पर्णों का चंद्र की कलाओं के साथ बढ़ना-घटना प्राचीन विज्ञान की प्रसिद्ध घटना है । इन्हीं धर्मों की रक्षा के कारण दशों दिशाओं द्वारा इसकी रक्षा हो रही है और प्रलय पर्यन्त होती रहेगी । धर्मो रक्षति रक्षितः । धर्मों धारयते प्रजाः । धर्म ही सबको धारण कर रहा है । जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है ।

स तू पवस्व परि पार्थिवं रजो दिव्या च सोम धर्मभिः ।
त्वां विप्रासो मतिभिर्विचक्षण शुभ्रं हिन्वन्ति धीतिभिः । ९-१०७-२४

हे सोम ! तुम धर्मों द्वारा पार्थिव तथा दिव्य लोक के चारों ओर क्षरित हो जाओ । हे विचक्षण ! तुम शुभ्र हो । तुम्हें विप्रजन अपनी बुद्धियों और कर्मों द्वारा बढ़ाते हैं ।

विप्र व्यापक बुद्धि वाले होते हैं । उनकी बुद्धियाँ संकुचित, स्वार्थ-प्रेरित नहीं होतीं । वे व्यापक दृष्टिकोण से विचार करते हैं । उनकी धीतियाँ, धारक

कर्म शक्तियाँ भी वैसी ही सर्वजनहित-साधिका होती हैं। ऐसे विप्रों के ज्ञान तथा कर्म द्वारा परम प्रभु का प्रकाश होता है। सामान्य जन इन्हें देखकर परम कारुणिक सर्वव्यापक प्रभु का ध्यान किया करते हैं। ऐसा कैसे होता है ? यह होता है परम प्रभु के व्याक धर्मों, नियमों तथा व्यवस्थाओं के द्वारा। वे न केवल पार्थिव (जिससे हमारा विशेष सम्बन्ध है) अपितु दिव्य लोक के भी चारों ओर अपने विविध धर्मों के संचालन द्वारा स्वयं प्रकट होते रहते हैं। वे क्षरित होते हैं, द्रवित होते हैं जिससे सबको आश्वासन प्राप्त होता रहे। सूर्य के प्रकाश के रूप में, चंद्र की ज्योत्स्ना के रूप में, नक्षत्रों की शुभ्र ज्योति के रूप में उन्हीं की द्युति का प्रसार हम तक हो रहा है—हम पार्थिव प्राणियों तक ही नहीं, द्युलोकवासी मुक्तात्माओं तक भी। शरीर एवं बुद्धि दोनों के क्षेत्र उन्हीं से प्रकाशित होते हैं।

नीचे लिखे मंत्र में भी इसी तथ्य का उदघाटन हुआ है:—

विभ्राड् बृहत् सुभृतं वाजसातमं धर्मन् दिवो धरुणे सत्य मर्पितम्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा॥ १०-१७०-२

द्यावा के प्रकाशमय धारक धर्म में विशेष रूप से चमकने वाला, सबसे बड़ा, सबका पोषण करने वाला और बल को प्राप्त कराने वाला सत्य निहित है। वही शत्रुहन्ता, वृत्रहन्ता, दस्युहन्ता, असुर संहारक तथा प्रतिपक्षियों का विनाशक प्रकाश प्रकट हो रहा है। यहां धर्म शब्द का प्रयोग एक बचन में हुआ है। द्यावा का धर्म एक ही है—प्रकाश करना। इस प्रकाश का स्रोत सर्वोत्तम प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही है। द्यावा का यह प्रकाश बाहर और प्रज्ञा-मेधा-बुद्धि का प्रकाश भीतर एक महती शक्ति है। अविनाशी सत्य इसी के गर्भ से अभिव्यक्त एवं आविर्भूत होता है। जिसे यह मिल गया, उसके वारक विघ्न, शत्रु, दस्यु, असुर तथा प्रतिपक्षी सब समाप्त हो गये। ज्योति के सामने अंधकार में पलने वाले कीट ठहर नहीं सकते। द्वेष-मोह-शोक आदि भाव इसी प्रकार के कीट हैं। प्रभु के प्रकाश के आविर्भूत होते ही इनकी सत्ता नष्ट हो जाती है। साधक अनुभव करने लगता है कि ये तो मेरे पैरों के नीचे दबे पड़े हैं। ये मुझे क्या वशीभूत करेंगे ? मैं प्रकाश का प्राणी, ये अविवेक जनित अंधकार के निवासी ; मैं इन्द्र और ये वृत्र ; मैं हिंसा से ऊपर और ये हिंसा में सराबोर—ये भला मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं ?

धर्म का एक बचन में प्रयोग नीचे लिखे मंत्रों में भी हुआ है:—

त्वं विश्वस्माद् भुवनात् पासि धर्मणाऽसुर्यात् पासि धर्मणा। १–१३४–५

हे देव! तुम धर्म द्वारा समस्त भुवन, उत्पन्न वस्तुजात से बचाते हो। धर्म द्वारा ही तुम असुरों के घातक आक्रमणों से हमारी रक्षा करते हो।

यहां धर्म पुण्य कर्म है, सदाचार है। जो पुण्यवान है, प्रभु उसके साथी हैं। संसार की कोई सत्ता ऐसी नहीं जो प्रभु के प्यारे को चोट पहुँचा सके। धर्म जीव को प्रभु का प्यारा बना देता है। असुरों की अनी, उनके घातक इरादे धर्मात्मा के सामने वैसे ही भग्न हो जाते हैं जैसे पत्थर पर गिरा हुआ मिट्टी का ढेला।

ते सूनवः स्वपसः सुदंससो मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तये।
स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्मणि पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनः। १-१५९-३

महान माताओं ने, द्यावा और पृथ्वी, ऋत और सत्य, प्राण और रयि, पुरुष और प्रकृति के तत्त्वों ने शोभनकर्मा एवं दर्शनीय पुत्रों को जन्म दिया है। ये पुत्र अपने पूर्वजों का स्मरण करते हैं, उनके यज्ञ स्वरूप का ध्यान करते हैं। इस यज्ञ धर्म में ही स्थावर तथा जंगम, चर एवं अचर, लोक तथा भूत सभी का सत्य, सत्ता सुरक्षित है। यही धर्म पुत्रों के मार्ग की गति को विना विघ्न-बाधा के आगे बढ़ाता है।

आज धर्म-निरपेक्षता को प्रमुखता दी जा रही है। पर क्या धर्म के विना हम एक पग भी आगे बढ़ सकते हैं ? उन्नत हो सकते हैं ? सभ्य और संस्कृत बन सकते हैं ? नहीं, धर्म ही तो हमको, हमारे अस्तित्व को धारण कर रहा है। धर्म विहीन जातियां मात्स्य न्याय के चपेटे में एक दूसरे को खाने लगती हैं। आपाधापी का बाजार गर्म हो उठता है। धर्म पर स्थित, पुण्यकर्म-परायण व्यक्ति और जाति ही एक दूसरे की सहायता करते हुए जीवित रहते हैं और सुख एवं शान्ति का अनुभव करते हैं।

'पूर्वचित्तये' पद मंत्र में सारगर्भ अर्थ रखता है। हमारा अतीत महान है। उस महत्ता के उपरान्त हमारा क्रमशः ह्रास होता गया है। साक्षात्कृत धर्मा ऋषि पूर्व थे। अब ग्लानि-ग्रस्त पंडित हैं। स्वर्णिम अतीत कहता है : 'हमारी ओर देखो। हमारा स्मरण करो और आदर्श की ओर चलने का प्रयास करो। पहले दीर्घायु पुरुष थे। अब अल्पायु रह गये हैं। त्याग एवं तपस्या, श्रद्धा एवं दीक्षा, वीर्य एवं विश्वास दीर्घायु के साधक हैं। इस तथ्य का ध्यान रखते हुए हम संयमशील बनें और अपने से पहले, पूर्वकाल के महापुरुषों का स्मरण करें।

यही भाव निम्नांकित मंत्रों में भी पाया जाता है :—

इनोत पृच्छ जनिमा कवीनां मनोधृतः सुकृत स्तक्षत द्याम्।
इमा उते प्रण्यो वर्धमाना मनोवाता अधनु धर्मणि ग्मन्। ३-८३-२

उन कवियों के जन्मों को पूछो जिन्होंने मन का संयम किया था, जो सुकृती थे और जिन्होंने द्यौ लोक, दिव्यता, प्रकाशमयी अवस्था को प्राप्त किया या निर्मित किया। मन की लहर के समान बढ़ती हुई तुम्हारी प्रकृष्ट नीतियाँ धर्म की ओर धावित हों, धर्म में समाविष्ट हों।

द्यौ लोक, प्रकाश की प्राप्ति पुण्यकर्म तथा मन को धारण करने, उसे संकल्प-विकल्पों से हटाकर केन्द्रस्थ करने से होती है। यह केन्द्रस्थता पूर्व ऋषियों को सहज सुलभ थी। हम भी इस प्रकृष्ट प्रणाली का अनुगमन करें और धर्म में अपनी धृति को लगावें। हमारी नीतियों का आधार भी धर्म हो। वे धर्म द्वारा संचालित हों।

ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त, यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्।
दिवो धर्मन् धरुणे सेदुषो नॄन् जातै रजाताँ अभि ये ननक्षुः। १५-१५-२

ऋत या सदाचार के सत्य नियमों का पालन करते हुए, जो सबके धारणकर्ता ऋत को अपने जीवन का अंग बना लेते हैं, वे यज्ञ के अद्भुत सामर्थ्य, परम व्योम में प्रकाश को धारण करने वाले धरुण (यज्ञस्तम्भ, सूर्य,) पर आसीन, हम जातों की अपेक्षा अजात, प्रेरक देवताओं, दिव्य शक्तियों को सामने ही प्राप्त कर लेते हैं।

सत्पुरुष कहते हैं : Right is might–ऋत ही बल है। देवों में ऋत भरा रहना है। ऋत की प्रथमजा के उपासक ऋतम्भर बन जाते हैं। यह सूर्य उनका निवास स्थान है। सूर्य की किरणों को वाहन बनाकर ये ऋतम्भर देव स्वच्छन्द गमन करते हैं। इन्हें प्राप्त करना है, तो हम भी ऋत को अपने आचरण का अंग बनावें, ऋत की उपासना करें। यदि हम जात से अजात होना चाहते हैं, जन्म मरण के चक्र से छूट जाना चाहते हैं, तो अपने पूर्वज इन देवों की शरण ग्रहण करें। परमपद को प्राप्त करने का सुगम, परन्तु सबसे कठिन पथ यज्ञ का पथ है। यज्ञिय बनने का सामर्थ्य हमारे पास होना चाहिये।

व्रतेन स्थो ध्रुवक्षेमा धर्मणा यातयज्जना।
नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये। ५–७२–२

धर्मपूर्वक चलनेवाले जन स्थिर क्षेम वाले होते हैं। व्रत के द्वारा वे समवस्थित बनते हैं। हम सबके जीवन अस्थिर हैं, स्थिरता से शून्य हैं। कभी इधर दौड़ते हैं, कभी उधर, पर शान्ति हाथ नहीं लगती। सोमपान किया नहीं, भक्ति-भावना कभी जगाई नहीं, स्थिरचित्त होकर वेदी पर यज्ञ करने, ब्रह्म में ध्यान लगाने कभी बैठे नहीं। फिर सुस्थिरता आवे तो कैसे ? समवस्थित होना है, तो

प्रपंच के चक्र-जाल को छोड़कर, हम वेदी पर, बर्हि: अर्थात् कुशासन पर बैठें और सोमदेव का ध्यान करें। उत्तर की, उच्चतर अवस्था की दिशा के अधिपति वही हैं। सत्य तथा दीक्षा से समन्वित होकर हम सोमदेव का पल्ला पकड़ें, प्रभुभक्ति में मग्न हों, तो उच्चतर अवस्था, उत्तरायण पथ की प्राप्ति हमें हो जायगी। यही पथ हमें स्थिर करेगा, ध्रुवक्षेम वाला बनावेगा, गमनागम से छुड़ाकर अया कर देगा—निश्चिन्त और पूर्ण। पूर्ण हो जाने पर गति कहाँ? घड़े में अन्न जबतक भरा नहीं है, घड़ा खाली है, तब तक उसमें अन्न का हिलना-डुलना बना रहता है। भर कर बन्द कर दिया गया, तो हिलना-डुलना कहाँ ? हम भी इसी प्रकार खाली न रहकर पूर्णता को प्राप्त करें।

धर्मणा मित्रा वरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।
ऋतेन विश्वं भुवनं विराजथः सूर्यमाधत्थो दिवि चित्र्यं रथम्। ५-६३-७

विद्वान मित्र और वरुण, अध्यापक और उपदेशक अथवा मंत्री और राजा प्राण-प्रदाता (असु+र) देव की शक्ति अथवा प्रज्ञा द्वारा धर्म की साधना करते हुए व्रतों अर्थात् नियम-व्यवस्थाओं की रक्षा करते हैं। व्यापक नीति-नियम ऋत (moral laws) के पालन द्वारा वे समस्त भुवनों के ऊपर विराजमान होते हैं, निखिल भुवनों को प्रकाशित करते हैं और सूर्य जैसे विचित्र रथ को द्यौलोक में धारण करते हैं।

सूर्य रथ है, साधारण नहीं, अद्भुत। यह अपने अक्ष पर घूमता हुआ न जाने किन किन सूर्यों की (अपने सम्पूर्ण सौर मंडल के साथ) परिक्रमा करता है! यह सामर्थ्य इसमें कहाँ से आया ? मंत्र कहता है :—ऋत से। ऋत इसका पिता है, पालक है। ज्ञानी पुरुषों के व्रत कैसे सुरक्षित रहते हैं ? मंत्र कहता है—धर्म से। धर्म का अनुवर्तन ही ज्ञानियों को असु+र शक्ति से सम्पन्न करता है। सदाचार और प्रज्ञा दोनों का संयोग साधक को पार लगाता है।

द्यावा पृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा। ६-७०-१

यह विशाल जाज्वल्यमान द्यावा और यह विस्तृत पृथ्वी किस पर ठहरे हुए हैं ? इनकी स्थिति का कारण क्या है ? ये जो अजर दिखाई देते हैं—वृद्ध होते हुए भी, अति प्राचीन होने पर भी, जराजरण से शून्य और अत्यन्त वीर्यवान युवा के समान—इनकी इस सतत तरुण वीर्यवत्ता का कारण क्या है ? वेद कहता है—वरुण देव का धर्म इन्हें धारण कर रहा है, इन्हें अजर और अति सामर्थ्यवान बना रहा है। यदि हम भी वरुण देव के शासन में चलें, उनके धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करें, तो द्यावा और पृथ्वी के समान ही हम भी सतत तरुण बने रह सकते हैं।

यो वामृजवे क्रमणाय रोदसी
मर्तो ददाश धिषणे स साधति ।
प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि
युवो सिक्ता विषुरूपाणि सव्रता । ६–७०–३

हे रोदसी ! द्यावा–पृथ्वी ! जो मानव सरल आचरण–व्यवहार के लिये अपने आप को तुम्हारे सुपुर्द कर देता है, अपने को दे देता है, वह इस यज्ञकर्म में, धारणा में सफल होता है । वह धर्म–परायण होकर सन्तानों, प्रजाओं के द्वारा प्रख्यात होता है और तुमसे सिंचित, आप्यायित होकर विविध धर्मरूपों के साथ समान व्रत वाला बनता है ।

हमारा क्रमण, आचरण, सरल होना चाहिये । कौटिल्य, छल-कपट, पैशुन्य जीवन में अशान्ति उत्पन्न करते हैं । हमें विनयी, धर्मकार्य के लिये समर्पणशील होना चाहिये । जीवन-यज्ञ की सफलता इन्हीं गुणों पर आधारित है । धर्म-परायण व्यक्ति का जीवन दुरितों से दूर, आदित्यशक्तियों द्वारा संचालित, सुभग नीतियों का अनुगामी और कल्याणमार्गी होता है । इसी हेतु वह सन्तान, धनधान्य, यश आदि से समृद्ध बनता है । उसका व्रत, जीवन की मर्यादा-बद्ध गति, प्रभु पर विश्वास उसे उन्नति की ओर ले जाते हैं ।

या इन्द्र प्रस्वः त्वाऽऽसा गर्भमचक्रिरन् । परिधर्मेव सूर्यम् । ८–६–२०

धर्म जैसे सूर्य के चारों ओर विद्यमान होकर मानों उसे अपने गर्भ में धारण किये हुए हैं, उसका रक्षक बना हुआ है, वैसे ही जो अन्न आदि वसु है, वह धर्मात्मा व्यक्ति को अपने गर्भ में धारण कर लेता है, उसके चारों ओर छा जाता है और उसकी सुरक्षा का साधन बनता है ।

ऋग्वेद ९–२५–२ से धर्म के द्वारा वायु में प्रवेश करने और ९–६३–२२ में धर्म के द्वारा वायु पर आरूढ़ हो जाने का वर्णन है । धर्मणा वायुमाविश-वायु में प्रवेश, वायवी गति की उपलब्धि, अन्तरिक्ष में विचरण, प्राणतत्व की प्राप्ति धर्म की धारणा से ही संभव है, यम-नियमों का पालन करने से ही साध्य है । वायुमारोह धर्मणा वायु पर आरोहण, प्राण को वाहन बना लेना और उससे ऊर्ध्व गति को सम्पादित करना भी धर्म पर ही आश्रित है । धर्म उन्नयन का आधार है ।

पीछे मंत्रों में सोम के साथ ऋत, मित्र और वरुण के भी नाम आये हैं । सोम ऊंचा उठाता है । प्राण, वीर्य, भावुकता, भक्तिभावना सभी मानव को अधः से ऊर्ध्व ले जाने वाले हैं । सोम को ब्राह्मणों का राजा कहा गया है, उसका कारण है भक्ति-भाव का ज्ञान-विज्ञान के ऊपर आधिपत्य । भक्तिभावनाओं को सोम की धारायें अथवा इन्दवः भी कहा जाता है । निम्नोंकित मंत्र इसी आशय की अभिव्यक्ति करते हैं —:

असृग्रमिन्दवः पथा धर्मन्नृतस्य सुश्रियः ।
विदाना अस्य योजनम् । ९–७–१

सोम अर्थात् भक्तिभावना के धनी साधक प्रभु के आयोजन को, ब्रह्माण्ड पिण्ड' आदि के निर्माण तथा धारण की प्रक्रिया को जानते हैं। वे शोभन श्री से सम्पन्न होते हैं। प्रभु की आश्रयिणी- सबकी आधारभूता-शक्ति उनके ललाट पर प्रदीप्त होती ज्ञान पड़ती है। ऐसा क्यों होता है? कारण है, उनका ऋत के पथ पर चलना और धर्मभावना में डूबे रहना। दुष्कृती तो ऋत के पथ पर चलही नहीं सकते। उसके पार हो जाना तो उनके लिये असंभव ही है। पर भक्त सुकृती होते हैं, ऋत के पथ को जानते हैं और चलकर उसे पार कर जाते हैं। धर्म उनका सहायक बनता है।

तरत् समुद्रं पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत्।
अर्षन् मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋतं बृहत्। ९–१०७–१५

विगत मंत्र के ऋत और धर्म दोनों इस मंत्र में भी विद्यमान हैं। वेद में कई स्थानों पर ऋत के वृहत समुद्र, तंतु या पथ का वर्णन आया है। तन्तु वितत होता है, फैलता है। समुद्र भी फैला हुआ है। पथ तो लम्बा होता ही है। ऋत का यह फैलाव (Extension) ब्रह्माण्ड है जिसमें अनेक लोक-लोकान्तर तथा प्राणियों की गणना की जा सकती है। धर्म क्या है? धर्म वह तत्त्व है जो इन सबको धारण करता है। धारण करने में प्राण तथा अपान, धन तथा ऋण, विधि तथा निषेध दो शक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं। धारण की क्रिया इन्हीं दो शक्तियों पर आश्रित है। एक के द्वारा धारण शक्ति को सहायक वल मिलता है और दूसरी के द्वारा मार्ग में पड़ने वाले विघ्नों को हटाया जाता है। मित्र शक्ति सहायिका है, धन या प्राण है। वरुण शक्ति विघ्नों को निवारण करने वाली है। एक अन्दर कुछ डालती है; दूसरी अन्दर से कुछ अनावश्यक, दूषित अंश को बाहर निकालती है। आधान तथा निष्कासन, धारण तथा अपनयन दोनों विधानों द्वारा शक्ति का सम्पादन किया जाता है।

मंत्र कहता है कि हम मित्र और वरुण के धर्म द्वारा बढ़ते हैं। मित्र शक्ति हमें कुछ देती है और वरुण शक्ति वारक द्रव्य को बाहर फैंकती है। इन दो क्रियाओं द्वारा हम वर्द्धमान होते हैं और वृहत या व्यापक ऋत को-सत्य नियम को प्राप्त कर लेते हैं। पर नियम स्वयं अपने में लक्ष्य नहीं है। वह लक्ष्य तक पहुंचाने का साधन है। नियम जानकर हमें नियामक तक पहुँचना है। यह नियामक कैसे मिलेगा? मंत्र कहता है—ऋत के बृहत समुद्र को पार कर जाओ, तो नियामक मिल जायगा। यजुर्वेद में इसीलिये लिखा है—ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य–ऋत के फैले हुए इस तन्तु को चीर कर, इसके पार होकर, नियामक के, सर्वव्याप्त प्रभु के दर्शन करो।

तक्षद्यदी मनसो वेनतो वाग् ज्येष्ठस्य वा धर्मणि क्षोरनीके ।
आदीयमायन् वरमावावशाना जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम् । ९–९७–२२

प्रेमी भक्त जब मन से वाणी का उच्चारण करते हैं और वह वाणी ज्येष्ठ धाता, व्योम के धारक मुख में प्रविष्ट होती है, तब इन्द्रियाँ, कामना करती हुईं, अपने इन्दु को, सेवनीय स्वामी को, वरणीय वर को हृदय रूपी कलश में प्राप्त करती हैं।

मंत्र कहता है, स्तोत्रों का उच्चारण केवल मुख से नहीं, मन की वाणी से करो। उच्चारण के एक-एक स्वर के साथ मन की वृत्ति लगी हो, मननशीलता संयुक्त हो। मन यदि कार्तन का साथी है, तो हमारा कीर्तन, स्तवन स्वरों के आधार व्योम में प्रविष्ट हो जायगा, अपने स्रोत के समीप पहुँच जायगा। वेद इस स्रोत को ज्येष्ठ क्षु का नाम देता है। शब्द का क्षुवन, वहिर्गमन और उसके साथ ही रचना में आकाश का अविर्भाव ब्रह्माण्ड की ज्येष्ठ स्थिति के सूचक हैं। ज्येष्ठ का धर्म है अवरों को अपने साथ ले चलना ओर शान्त स्थिति में पहुँचा देना। जीवात्मा इन्द्र की शक्तियाँ भी कामना करती हुईं इस व्योम के परमधारक सोम को, प्रभु को, कलश रूपी हृदय में प्राप्त कर लेती हैं। उपनिषदकार हृदयको आकाश की संज्ञा देते रहे हैं। हृदय भाव का केन्द्र है। भक्तिभाव वहीं से प्रसूत होता है, और उसके द्वारा हृदय ही में निहित प्रभु तक पहुँचा जाता है, उसे प्राप्त किया जाता है।

धर्म का एकवचनीय प्रयोग आध्यात्मिक क्षेत्र के लिये विशेष रूप से हुआ हैं, जैसा हम विगत मंत्रों में देख चुके हैं। उसका बहुवचनीय प्रयोग सामाजिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक क्षेत्र के नियमों का ज्ञापक है। अध्यात्म में धर्म का भाव मनुष्य को प्रपंच से पृथक रखता है और बहुत्व-स्थूलत्व से एकत्व एवं सूक्ष्मत्व की ओर ले जाता है—सांसारिक दृष्टि से यह तुजना है। ऋ० १४–४४–१ इसीलिये कहता है:—धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान्। बलवान व्यक्ति भी धर्म के कारण तुजता है, कृश होता है। यह कृशता भौतिक है। आध्यात्मिक क्षेत्र में तो वह और भी अधिक बलवान बनता है।

सामाजिक क्षेत्र में माता के गर्भ से बाहर आकर बच्चा भूख-प्यास से चिल्लाता है; पर धर्म ने ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि इधर बच्चा पैदा हुआ और उधर मां की छाती में दूध भर गया। माँ भूख से व्याकुल बच्चे के मुख में स्तन डाल देती है। वह उसे चूसकर दूध निकाल लेता है जिससे उसकी भूख शान्त हो जाती है। यह पद्धति सहज स्वाभाविक रूप में किसने प्रचलित की है? ऋ० १०–२०–२ के

अनुसार यह प्रभु की धर्म-व्यवस्था है, उसकी धारक शक्ति है, जो बच्चे को मां के स्तन से दूध पिला कर उसे आनंद देरही है—यस्य धर्मन्त्स्वरेनी: सपर्यन्ति मातुरूधः।

आप कह सकते हैं, यह तो धर्म की वायवी चर्चा है। इससे सामान्य जन क्या ग्रहण कर सकते हैं ? उन्हें तो मोटी–मोटी बातें बताना चाहिये जिन्हें वे समझ सकें और समझकर जीवन में उतार सकें। अतः अब हम दार्शनिकता से पृथक कुछ ऐसी शिक्षायें वेदमंत्रों के आधार पर लिखेंगे जो वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को क्लेश-रहित तथा मधुर बनाने वाली हैं।

पाप का प्रभाव भोजन छोड़ देने से दूर होता है:—

य आपि नित्यो वरुण प्रियः सन्
त्वाँ आगांसि कृणवत् सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम
यन्धिष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्। ७–८८–६

जीव परमात्मा का सगा बन्धु, नित्य और प्रिय है, फिर भी, प्रभु का सखा होता हुआ भी, वह पाप क्रिया करता है। परमात्मा अपापविद्ध है–पाप से एकदम पृथक। फिर जीव पापी क्यों बनता है ? उत्तर है, प्रभु को, अपने घर को छोड़ देने और भोग-लिप्सा में पड़ जाने के कारण। अतः वेद कहता है कि जब कोई पाप हो जाय, तो भोजन मत करो। भोजन छोड़ देने से अपना प्यारा प्रभु याद आवेगा और पाप का प्रभाव नहीं पड़ेगा। पाप यदि पीछे न पड़ा, तो सामने भद्र ही भद्र है, मंगल ही मंगल है। प्रभु सर्वज्ञ हैं, प्रकृष्ट ज्ञानी हैं। भोजन छोड़ देने और स्तुति द्वारा उनका स्मरण करने से वे अवश्य शरण प्रदान करेंगे।

अकेले मत खाओ—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी॥ १०–११७–६

मूर्ख, अविवेकी व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है। मैं सच कहता हूँ, यह उसका वध है, क्योंकि वह अपने अन्न से न तो अपने सखाओं को और न धर्मात्मा, न्याय-परायण विद्वानों को ही तृप्त तथा पुष्ट करता है। वह अपने अन्न का सेवन, अपनी कमाई का प्रयोग, दूसरों की आँख बचाकर, केवल अपने ही लिये कर रहा है। अकेला खानेवाला पापी बनता है।

सत्य पार लगाने वाला है—

सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् । ९–७३–१

सत्य बोलना ऐसी नाव है जिस पर बैठकर सत्कर्म करने वाले भवसागर से पार हो जाते हैं।

प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आदधत् । अथ० ११—६—११

परमेश्वर सबके प्राण स्वरूप हैं। वे सत्य बोलने वाले को उत्तम लोक में स्थापित करते हैं। सत्य मन-वाणी--कर्म द्वारा याथातथ्य का कथन है।

श्रद्धया सत्यमाप्यते । यजु० १९—३०

यह सत्य श्रद्धा से प्राप्त किया जाता है। श्रद्धा ही श्रत् या सत्य को धारण करने वाली है।

मीठी वाणी बोलो—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वा मूले मधूलकम् ।
ममेदह ऋतावसो मम चित्त मुपायसि ।
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमत् भूयासं मधुसंदृशः । अथ० १—३

मेरी जिह्वा के अग्र भाग में मधु हो। जिह्वा का मूल मधुर हो। मेरा निकलना और दूर-दूर तक जाना अर्थात् मेरा आचरण और व्यवहार मधुर हो। मैं वाणी से मीठा बोलूं और मधुरता की मूर्ति बन जाऊं।

लालच मत करो—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् । यजु० ४०—१

इस चलायमान संसार में सब कुछ चलायमान है, पर यह एक अचल ईश्वर से आवास्य है। ईश्वर ने ही जीव के लिये सब भोग दिये हैं। अतः सब भोग, ऐश्वर्य, वैभव उसी के हैं। तू इन्हें अपना मत समझ और मत लालच कर।

अन्दर–बाहर एक से बनो—

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् । अ० २—३०—४

जैसा अन्दर मन में हो, वैसा ही बाहर के व्यवहार में हो और जैसा बाहर का व्यवहार हो, वैसा ही मन में भी हो।

दुर्गुणों से बचो—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रन्तन्न आसुव। यजु० ३०—३

हे सर्वोत्पादक परमेश्वर! हमें दुर्गुणों, दुरितों से बचाइये और जो भद्र है, कल्याणकारक है, सद्‌गुण है, वही हमें प्राप्त कराइये।

ईर्ष्या मत करो। वह जलानेवाली है—

ईर्ष्याया ध्राजिंप्रथमां प्रथमस्याः उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि। अ० ६—१८—१

ईर्ष्या के प्रथम वेग को और उसके पश्चात उसी से निकलने वाले उसके परवर्ती वेग को दूर करो, क्यों कि वह अग्नि है जो हृदय को शोक से भरकर जला डालेगी।

द्वेष से दूर रहो—

आरे देवा द्वेषोऽस्मद्युयोतनोरुणः शर्म यच्छत। १०—६२—१२
हे देवो! हमसे द्वेष को दूर रखो और इस प्रकार हमें विस्तृत सुख प्रदानकरो।

किसी के ऋणी मत बनो—

अनृणा अस्मिन् अनृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम। ६/११७/३

ऋण की प्रवृत्ति निन्दनीय है। वह मानव को पराधीन बनाती है। सर्वं परवशं दुःखम्। परवशता में दुख ही दुख है। अतः हम न इस लोक में ऋणी रहें और न परलोक में। देवयान और पितृयान जिन लोकों में ले जाते हैं—उनके सभी पथों में हम अनृण होकर रहें।

छः प्रकार के दुर्व्यसनों का त्याग करो—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र। अ० ८-४-२२

उल्लू की चाल अज्ञान या मोह से अलग रहो। यह पापी है। तुमको भी पाप में डालेगा। शुशुलूक भेड़िया का नाम है। यह हिंसक और क्रोधी होता है। इसकी चाल में हिंसा और क्रोध हैं। इससे भी दूर रहो। एक कुत्ता दूसरे कुत्ते को देखते ही मात्सर्य के कारण भोंकता है और आक्रमण करने लगता है। एक कुत्ता दूसरे कुत्ते की उपस्थिति को सहन नहीं कर सकता। हम मनुष्यों को इसकी चाल—मात्सर्य—छोड़ देना चाहिये। कोक या चकवा-चकवी कामी होते हैं। काम में मनुष्य अंधा हो जाता है, विवेक से भ्रष्ट हो जाता है और निर्लज्ज बन जाता है। इस काम को भी छोड़ देने में ही कल्याण है। सुपर्ण अर्थात् गरुड़ बड़ा अभिमानी होता है। अभिमान अपने आपको ही नहीं देखने देता। अतः वह उत्थान का शत्रु है। उसको छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। गृध्र बड़ा लालची होता है। पृथ्वी पर पड़ी शव को, मुर्दा मांस को, आकाश में ही दूर से देखकर उस पर गिरता है। मुर्दार अभक्ष्य है। लालची व्यक्ति भी अपने लोभ में भक्ष्याभक्ष्य, उचित-अनुचित का विचार नहीं करता। बुद्धि के साथ यह व्यभिचार है। काम और क्रोध में बुद्धि साथ नहीं रहती। लोभ में लोभी उसका जान बूझकर कुप्रयोग करता है : ऐसे जघन्य लोभ को छोड़ देने में ही कल्याण है।

कर्तव्य को कर्तव्य समझकर करते रहो—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतम् समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजु ४०—२

सत्कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करो। कर्तव्य कर्म की साधना करने वाले नर में कर्म लिप्त नहीं होते। निर्लेपता के लिये इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है।

चरैवेति, चरैवेति—चलते रहो, कर्तव्य कर्म करते रहो।

आलसी बनकर मत बैठो। स्वप्निल व्यक्तियों में दिव्यता का संचार नहीं हो सकता। जो पुरुष यज्ञ जैसे श्रेष्ठतम कर्म करता है, दिव्यता उसी को प्राप्त होती है। नरत्व को देवत्व में परिणत करना है तो प्रमाद छोड़कर सत्कर्मशील बनना होगा। कर्म से आसक्ति तथा फलाकांक्षा को भी निकाल दो। कर्म केवल कर्म के लिये, कर्तव्य पालन के लिये है—ऐसा ध्यान बना रहे, तो सिद्धि प्राप्त करने में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होगी।

दानी बनो—

पृणीया दिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः। १०—११७—५

धनवातों को चाहिये कि वे प्रार्थनाशील भिक्षुक को दान देकर तृप्त करें। ऐसा करने में उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि जीवन का पथ लम्बा है। पता नहीं, कौन सा कर्म कब फलीभूत हो उठे। धन तो रथ के चक्र की भांति कभी ऊपर आता है और कभी नीचे चला जाता हैं। सम्पदा आज एक के पास है तो कल दूसरे के पास चली जायगी।

स इद् भोजो यो गृहवे ददाति अन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्। १०/११७/३

भोजन वही है, भोजन करना उसी का सार्थक है, जो घर आये हुए अन्नकामना वाले दीन व्यक्ति को भोजन देता है। समय पड़ने पर यही दान उसके काम आता है और परवर्ती काल में सखा बनता है।

जुआ मत खेलो—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व वहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सविताऽयमर्यः। १० ३४/१३

जुआ मत खेलो। कृषि करो। उससे जो धन मिले, उसी को बहुत समझो और आनंद में मग्न रहो। इसी गाढ़ी कमाई से तुम्हारे घर में गायें रहेंगी और तुम्हारी पत्नी भी तुम्हारी होकर प्रसन्न रहेगी। सबके स्वामी प्रेरक प्रभु ने मुझसे यही कहा है।

स्वयं उठो—

स्वयं वाजि स्तन्वं कल्पयस्व, स्वयं यजस्व, स्वयं जुषस्व। महिमा ते अन्येन न सन्नशे। यजु० २३—१५

हे वीर्यवान पुरुष ! तुम स्वयं अपने को समर्थ बनांओ, स्वयं सत्कर्म करो, स्वयं प्रभु-प्रार्थना में जुटो और सत्पुरुषों की सेवा करो। तुम्हारी महिमा तुम्हारे ही द्वारा प्राप्त होगी, किसी अन्य के द्वारा नहीं।

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। अथर्व ८—१—६

हे पुरुष ! तुम ऊपर उठने के लिये आये हो, नीचे गिरने के लिये नहीं।

पारिवारिक धर्म—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्। २
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया। ३ अथर्व ३—३०

पुत्र पिता के व्रत के अनुकूल चले । परम्परा की रक्षा, कुलक्रमागत धर्मों की संस्थिति, इसी पद्धति से होगी । यदि पुत्र पिता के विपरीत चला, तो पिता इस लोक से चलने के समय यह नहीं कह सकेगा, इस विश्वास के साथ शरीर नहीं छोड़ेगा कि पुत्र मेरे अवशिष्ट कार्य को पूरा करेगा । पुत्र माता के मन के साथ एक हो, मां की इच्छा को पूर्ण करे । पत्नी अपने पति से मीठी और शान्ति प्रदायिनी वाणी बोले । भाई भाई से और बहिन बहिन से द्वेष न करे । सब मिलकर चलें , समान व्रत वाले बनें और मंगलमयी वाणी का उच्चारण करें । सबका पारस्परिक व्यवहार प्रेम से भरा हुआ हो ।

सामाजिक धर्म—

एक व्यक्ति गृहस्थ बनकर एक परिवार का निर्माण करता है । एक ही पिता से सम्बद्ध कई परिवार मिलकर संयुक्त परिवार-प्रणाली को जन्म देते हैं । अनेक पृथक-पृथक परिवारों से ग्राम, कई ग्रामों से जनपद या प्रदेश और कई जनपद या प्रदेशों से एक देश या राष्ट्र का निर्माण होता है । एक महाद्वीप में कई देश होते हैं और कई महाद्वीप भूमण्डल के विभाग कहलाते हैं ।

इस प्रकार भूमण्डल एक व्यक्ति नहीं, प्रत्युत अनेक व्यक्तियों, परिवारों, देशों और महाद्वीपों का समुदाय है । यदि सद्भावना और सहयोग को प्रमुखता दें, तो समस्त देशों का एकीकरण एक कुटुम्बवाद में हो सकता है । रूस ने कम्यूनिज्म शब्द का प्रयोग एक कुटुम्बवाद की विचारधारा के रूप में ही किया है । हमारे देश में एक कुटुम्बवाद की ध्वनि अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है ।उदारचरित वालों की विशेषता निम्नांकित श्लोक द्वारा चरितार्थ हो रही है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदार चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

यह मेरा है, यह पराया है—ऐसी विचारधारा संकीर्ण हृदय वालों की होती है । जो उदार चरित हैं, वे वसुधा भर को अपना कुटुम्ब समझते हैं । स्वार्थ और परार्थ उनके लिये एक ही है ।

वेद भी इसी विचारधारा का समर्थक है । इसे हृदयङ्गम करने के लिये नीचे लिखे मंत्रों पर विचार करें:—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ।। अथर्व १२-१-४५

अथर्ववेद के भूमि सूक्त में यह मंत्र आता है । मंत्र १२ में पर्जन्य को पिता और पृथ्वी को माता कहा गया है । पुत्र तो मानव है ही । इस पृथ्वी पर नाना प्रकार के मानव निवास करते हैं । वे विविध प्रकार की वाणियां बोलते हैं । उनके गुण-धर्म भी भिन्न भिन्न हैं । पर जैसे एक घर में कई प्राणी रहते हैं, वैसे ही पृथ्वी पर ये सब मनुष्य रहते हैं । जैसे गौ स्थिर होकर दूध देती है, वैसे ही यह पृथ्वी मेरे लिये प्रभूत धन की धारा प्रदान करे ।

एक घर में एक कुटुम्ब रहता है । इसी प्रकार पृथ्वी को घर बनाकर सब मनुष्य एक कुटुम्ब के रूप में रहें । सब में सौहार्द हो, प्रेम हो, जैसे भाई भाई में होता है ।

सहृदयं सांमनस्य मविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो ऽन्यमभिहर्यत वत्सं जात मिवाघ्न्या ।। अथर्व ३–३०–१

सभी मनुष्यों के हृदय और मन समान हों और एक दूसरे के प्रति शत्रु भाव से रहित हों । वे परस्पर वैसे ही प्रेम करें जैसे गौ अपने बछड़े से प्रेम करती है ।

ज्यायस्वन्तः चित्तिनो मावि यौष्ट सं राधयन्तः सधुरा श्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ।। ५

बड़े बनो । विवेकशील बनो । कभी फूट कर न रहो । एक को केन्द्र मानकर लक्ष्य प्राप्ति के लिये मिलकर साधना करो । परस्पर प्रिय बाणी बोलते हुए एक दूसरे के निकट आओ । तुम्हारी गति एक ही उद्देश्य की सिद्धि के लिये, एकमन होकर, अग्रसर हो ।

मानव समाज के सदस्य एक साथ निर्धारित मार्ग से आगे बढ़ेंगे, तो निस्संदेह वे अपने कल्याण की साधना करेंगे ।

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत आरा नाभि मिवाभितः । ६

तुम सबकी प्याऊ (पानी पीने का स्थान) एक हो । तुम्हारा अन्नभाग, भोजन-भाजन साथ-साथ हो । तुमको मैं एक साथ एक ही जुए में जोतता हूं, एक ही कार्य के लिये संनद्ध करता हूं । जैसे नाभि के चारों ओर अरे लगे रहते हैं, वैसे ही तुम सब प्रभु को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर बैठ जाओ और एक साथ मिलकर उसकी अर्चना करो ।

मंत्र के पूर्वार्ध का प्रयोग इस युग में रूस ने किया और आशातीत उन्नति करके दिखला दी । मंत्र के उत्तरार्ध का प्रयोग इसलाम ने किया । सब मुसलमान, जितने भी हों—दस, बीस, हजार—एक साथ, एक ही ढंग से नमाज पढ़ते हैं, अल्लाह, खुदा या स्वयंभू ब्रह्म की इबादत करते हैं और इस आधार पर अपने संगठन को सुदृढ़ बनाते हैं । आवश्यकता है कि प्राणी इस आदर्श को अपनावें और सामूहिक रूप से मानवता का हित सम्पादन करें ।

वेद पृथ्वी का नाम लेता है—भारत, अमरीका, अरब या रूस जैसे किसी देश-विशेष का नहीं । उसका संदेश मानव मात्र के लिये है । अतः वेद सार्वभौम है ।

ऋग्वेद के अन्त में संज्ञान सूक्त है जिससे संगठन की अपूर्व शिक्षाप्राप्त होती है । यथा—

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते । २

साथ-साथ चलो । प्रेमपूर्वक संवाद करो , तुम्हारे मन मिलकर ज्ञान प्राप्त करें, जैसे पूर्व देवों ने एकत्र होकर ज्ञान प्राप्त किया और भजनीय प्रभु की उपासना की ।

समानो मंत्र समिति: समानी समानं मन: सह चित्तमेषाम् ।
समानं मंत्रमभिमंत्रये व: समानेन वो हविषा जुहोमि । ३

महर्षि दयानंद ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं—"हे मनुष्य लोगो ! जो तुम्हारा मंत्र अर्थात् सत्य असत्य का विचार है, वह समान हो । उसमें किसी प्रकार का विरोध न हो । और जब जब तुम लोग मिलकर विचार करो, तब तब सबके वचनों को अलग-अलग सुन के उस में जो जो धर्मयुक्त और सबके लिये हितकर हो, उसी का प्रचार करो जिससे सभी का सुख बढ़ता जाय । और जिसमें सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्यादि आश्रम, अच्छे-अच्छे काम.........आदि बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों, ऐसी जो उत्तम मर्यादा है सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो ।.........

तुम्हारा मन भी आपस में विरोध-रहित हो अर्थात सब प्राणियों के दु:ख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये आत्मा के समतुल्य पुरुपार्थवाला हो । शुभगुणों की प्राप्ति की इच्छा को संकल्प और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं । जिससे जीवात्मा ये

दोनों कर्म करता है, उसका नाम मन है। उससे सदा पुरुषार्थ करो जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो। चित्त उसको कहते हैं जिससे सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत विचार हो। वह भी तुम्हारा एक सा हो। जो तुम्हारा मन और चित्त है, ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें।

प्रभु ने सबको समान मंत्र दिया है। वेद अकेले आर्यावर्त के लिये नहीं, विश्व के मानव मात्र के लिये हैं। हवि भी उसने सबको समान मात्रा में दी है। उसका कौन कितना और कैसा प्रयोग करता है, यह तो सबकी अपनी अपनी शक्ति और योग्यता पर निर्भर है।

समानी व आकूतिः समानाहृदयानि वः।
समान मस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति। ४

सब मनुष्यों के संकल्प समान हों। सबके हृदय समान हों। सबके मन समान हों जिससे सब साथ-साथ शोभन स्थिति में विचरण करें।

भ्रातृभाव—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः। ऋ० ५ ६०/५

तुम में न कोई ज्येष्ठ है, न कोई कनिष्ठ है। तुम सब भाई-भाई हो। सब मिलकर सौभाग्य, निर्मल ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये बढ़ो। शोभन कर्मा युवा रुद्र परमेश्वर तुम्हारा पिता है और सब मनुष्यों के लिये सुखदायिनी, सुन्दर पोषक दुग्ध पिलानेवाली प्रकृति तुम सबकी माता है।

यहां कोई छोटा-बड़ा नहीं। जीवन-यात्रा में सभी पथिक हैं। हाँ, विकास में कोई आगे है, कोई पीछे। आयु की दृष्टि से तो सब नित्य अर्थात् सब एक समान ही हैं। एक जीवन में जो आयु से बड़ा दिखाई देता है, वह आगामी जीवन में बच्चा बनकर छोटा हो जाता है। अतः सबको एक दूसरे की सहायता करते हुए, धर्मपूर्वक अर्थ और काम का अर्जन तथा उपभोग करते हुए, मोक्ष के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

मैत्रीभाव

दृते दृं ह मा, मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजु० ३६-१८

हे नित्य दृढ़ परमेश्वर ! मुझे दृढ़ बना दो जिससे सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें । मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूँ । इस प्रकार हम सब एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखते रहें ।

मानवमात्र के लिये वेद का यह धर्म, यह संदेश, सृष्टि के आदि काल से लेकर अब तक चला आ रहा है । जो इसके अनुकूल चले, उन्होंने लाभ उठाया और मानव समाज के सामने आदर्श उपस्थित किया । जो चल रहे हैं, वे भी लाभान्वित हो रहे हैं और जो चलेंगे, वे भी विकासभूमियों के दर्शन करेंगे ।

उपनिषद और धर्म

उपनिषद का अर्थ "पास बैठना" है। प्राचीन प्रथा के अनुसार गुरू किसी योग्य शिष्य को और पिता अपने ज्येष्ठपुत्र को ही 'रहस्य' की शिक्षा देता था। और ऐसा करते हुये उसे अपने निकट बैठाता था। इस संयोग के कारण रहस्य भी उपनिषद कहलाने लगा। यों तो उपनिषदों की संख्या सौ से भी अधिक है, परन्तु प्रामाणिक उपनिषद ११ ही समझे जाते हैं। इनपर शंकराचार्य ने भाष्य लिखा है, और इनमें साम्प्रदायिकता का कोई अँश नहीं। इनमें कुछ गद्य में हैं, कुछ पद्य में, और कुछ में गद्य और पद्य दोनों मिलते हैं। मात्रा में ९ उपनिषदें छोटी पुस्तकें हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक जो सबसे पुरानी समझी जाती हैं दूसरों से बड़ी है, और महत्य में भी श्रेष्ठ है। ईश उपनिषद का विशेष स्थान हैं। यह यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ही है, कुछ शब्दों का भेद हो गया है, और ६ मन्त्रों का क्रम भिन्न है ; ऐसा प्रतीत होता है कि किसी आचार्य ने इस अध्याय को ही अपने उपदेश का मूलपाठ स्वीकार कर लिया।

श्रुति के बाद तीन प्रकार के ग्रन्थों की रचना हुई, ब्राह्मणों में वैदिक कर्म काण्ड का विस्तार किया गया, उपनिषदों में ज्ञान काण्ड के कुछ रहस्यों को स्पष्ट करने का यत्न किया गया, और स्मृतियों में नीति और राजनीति पर विशेष ध्यान दिया गया। स्मृति को धर्म शास्त्र भी कहते हैं।

उपनिषद धर्म शास्त्र नहीं, धर्म इनमें गौण विषय है। कई उपनिषदों में तो 'धर्म' शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ।

ईश उपनिषद में १८ मंत्र हैं। १५ वे मंत्र में धर्म शब्द मिलता है। मंत्र यह है :—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

चमकीले पात्र से सत्य का मुख ढपा हुआ है। हे पालन करने वाले परमात्मा! सत्य-धर्म को देखने के लिये उस परदे को हटा दो ।

विज्ञान दृष्ट जगत का अध्ययन करता है। यह जगत प्रकटन, मात्र है और अस्थिरता और परिवर्तन का नमूना है। इस अस्थिरता के परे स्थिर सत्ता है। यह विज्ञान के अध्ययन का विषय नहीं। तत्व-ज्ञान इसकी वावत विचार करता है। दृष्ट जगत तो चमकता है, इन्द्रियाँ इसे एक हद तक जानती हैं। अदृष्ट सत्ता का मुख दृष्ट जगत (चमकीले पात्रों) से ढका है। पालन करने वाले परमात्मा से प्रार्थना की गयीं है कि वह उस द्वार को जिसके पीछे सत्ता का मुख ढका है, खोल दे। प्रार्थना करने वाला अपने आपको सत्य–धर्म के जिज्ञासु रूप में बयान करता है, अर्थात उसके लिये सत्य और धर्म एक ही हैं। ज्ञान में सत्य का बोध होता है। धर्म में कर्त्तव्य पालन होता हैं। धार्मिक पुरुष के लिये इन दोनों में अन्तर नहीं रहता। आम बोलचाल में भी हम 'मैं सत्य कहता हूं, मैं धर्म से कहता हूं' एक ही अर्थ में कहते हैं।

केन, प्रश्न मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय उपनिषदों में 'धर्म' पर कुछ नहीं कहा। कठ उपनिषद (४ १४) में 'धर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु मानव आचरण के सम्बन्ध में नहीं, अपितु तात्विक गुण के अर्थं में लिया है, और कहा है कि अज्ञानी पुरुष ही आत्मा और परमात्मा में धर्म की पृथकता (गुण-भेद) को देखता है।

तैत्तिरीय उपनिषद

इस उपनिषद में तीन बल्लियां हैं—शिक्षा बल्ली, ब्रह्मानन्द बल्ली और भृगु बल्ली। तीसरी बल्ली में भृगु और उसके पिता का सम्वाद है। हम आशा करते हैं कि शिक्षा बल्ली में हमें कुछ मिल जायेगा। यह आशा पूरी हो जाती है।

शिक्षा के सम्बन्ध में दो बातें विशेष महत्व की हैं—(१) जब तक विद्यार्थी आचार्य कुल में रहे, वह किस वातावरण में विकसित हो।

(२) शिक्षा की समाप्ति पर जब विद्यालय को छोड़े तो अपने साथ क्या आदर्श ले जाये।

विद्यालय में प्रमुख काम तो अध्यापन और अध्ययन का होता है, परन्तु विद्यार्थी के व्यक्तित्व का विकास आचार्य के ध्यान में रहता है। विद्यालय का वातावरण विद्यार्थी के जीवन को एक साँचे में ढालता जाता है। इस वातावरण में प्रमुख अंश यह होते थे :—

ऋत : नैतिक नियम का पालन
सत्य : प्राकृतिक नियम का पालन (या सत्य भाषण)
तप

इन्द्रिय संयम
मन का शासन
अग्नि होत्र: दैनिक कर्म
अतिथि सत्कार
मानवता का व्यवहार

विद्यालय विद्यार्थियों पर जो विशेष छाप लगाना चाहता है, उसका स्वरूप क्या है ? यह एक विवाद का विषय है। आजकल भी शिक्षा–शास्त्रियों में कुछ कहते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण है; इसी से विद्यार्थी अच्छे नागरिक बन सकते हैं। कुछ और कहते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को जीवन—संग्राम में अपना भाग लेने के योग्य बनाना है। एक विचार यह भी है कि शिक्षा काल मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाने और ज्ञान की वृद्धि में खर्च होना चाहिये। उपनिषद में इस प्रसंग को समाप्त करते हुये कहा है :—

(१) सत्यवचा के विचार में सत्य (शुभ आचार) प्रमुख है।
(२) तपो नित्य के विचार में तप प्रमुख है।
(३) नाक के बिचार में स्वाध्याय और प्रवचन प्रमुख है।

यदि यह तीनों आज भारत में आवें तो हरेक को बहुतेरे शिक्षा—शास्त्री अपने मत के मिलेंगे।

शिक्षा की समाप्ति पर

शिक्षा की समाप्ति पर विद्यार्थी विद्यालय में कुछ बनने के लिये आता है, और शिक्षकों का काम भी उसे कुछ बनाना होता है। बहुतेरे लोग उच्चशिक्षा को खरीदते हैं, ताकि पीछे उसे अच्छे भाव पर बेच सकें। वे शिक्षा के साथ दीक्षा भी प्राप्त करते हैं जो प्राय: वेचने की वस्तु नहीं होती। यह मनुष्य को आप सामाजिक व्यवहार में अच्छे नागरिक का कार्य–क्रम प्रदान करती है। शिक्षा की समाप्ति पर गुरु शिष्य को अन्तिम उपदेश देता है। आजकल यह काम दीक्षान्त–समारोहों में होता है। यह बात कुछ महत्व की है कि कुछ विश्वविद्यालयों में इस अवसर पर कार्य–क्रम उस उपदेश के साथ आरम्भ होता है, जो तैत्तिरीय उपनिषद की शिक्षा-वल्ली '(अनुवाक ७७) में गुरु शिष्य को देता था। वह उपदेश यह है :—

'सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करो। दक्षिणा के रूप में प्रिय धन आचार्य की भेंट करो। गृहस्थ में प्रवेश करो, ताकि कुटुम्ब परम्परा टूट न जाये।

सत्य से, धर्म से, शुभ कर्मों से कभी चूकना नहीं। उन्नति के साधनों के प्रयोग में कभी न चूको।

पढ़ने–पढ़ाने में, देव–कार्य और पितृ–कार्य के करने में कभी न चूको।

तुम्हारे लिए तुम्हारी माता पूज्य हो, तुम्हारा पिता पूज्य हो, आचार्य पूज्य हो, और अतिथि पूज्य हो।

हमारे आचरण में जो कर्म शुभ हैं, उनका सेवन करो; अन्य कर्मों का नहीं, हमारे आचार में जो शुभ अन्श है, उसका अनुसरण करो; अन्य अन्शों का नहीं। जो कोई विद्वान हमसे उत्कृष्ट हो, वह अतिथि के रूप में आजाये, तो उसे सत्कार से आसन दो और ठहराओ।

दान देना चाहिये, श्रद्धा से दो; श्रद्धा न हो तो भी दो। देने की योग्यता है, इस ख्याल से दो; लोक लज्जा से दो, भय से दो। हाँ, जो कुछ दो, विचार करके दो।

कभी तुम्हें आचार या आचरण के सम्बन्ध में शंका हो, तो देखो कि अच्छे विचार वाले, योग्य, भले, अच्छे स्वभाव वाले धर्म–काम ब्राह्मण उस प्रसंग में कैसा व्यवहार करते हैं। वैसा ही तुम भी करो।

यह आदेश है, यह उपदेश है, यह वेद का रहस्य है। यही शिक्षा है। इसी प्रकार बिचारना चाहिये।

छांदोग्य उपनिषद

दो बड़ी उपनिषदों–बृहदारण्यक और छांदोग्य–में हमें दूसरी उपनिषद से ही सहायता मिलती है; परन्तु वह सहायता बहुत मूल्यवान है।

प्रपाठक २: २३ में कहा है:—'धर्म के तीन स्कन्ध हैं; यज्ञ, अध्ययन और दान पहला स्कन्ध है; तप दूसरा स्कन्ध है; और ब्रह्मचारी का आचार्य कुल में निवास करना तीसरा स्कन्ध है। जो लोग इस धर्म का पालन करते है, वे पुण्यलोकों को प्राप्त कहते हैं। अमरत्व तो ब्रह्म में विश्वास करने वालों को ही मिलता है।

इस वाक्य में धर्म की वृक्ष से उपमा दी गयी है। वृक्ष एक जीवित पदार्थ है, और, बृहदारण्यक उपनिषद के शब्दों में: उन्नति, बढ़ना, जीवन का प्रमुख चिन्ह है। एक कथन के अनुसार अच्छा पुरुष वह है, जो अधिक अच्छा बनने के यत्न में लगा रहता है।

वाक्य के अन्तिम भाग में कर्म की अपेक्षा ज्ञान को उत्कृष्ट कहा गया है। धर्मानुसार आचरण करने से व्यक्ति पुण्यलोक को प्राप्त करता है, और अपनी कमाई का फल भोगने के बाद फिर कर्मलोक में लौट आता है; ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने पर आना-जाना समाप्त हो जाता है।

धर्म के पहले स्कन्ध के तीन अंश यज्ञ, अध्ययन और दान हैं। समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्ग विशेष योग्यताओं को प्राप्त करते है, और विशेष कर्त्तव्यों को पूरा करते हैं। इन कर्त्तव्यों में कुछ कर्म साझे हैं। अध्ययन (वेदादि धर्मपुस्तकों का स्वाध्याय), यज्ञ करना और दान देना तीनों वर्गों के समान कर्तव्य हैं। यह धर्म का पहला स्कन्ध है। तप दूसरा स्कन्ध है। तप का प्रयोजन शरीर और आत्मा को दृढ़ बनाना हैं। जो कुछ भी किसी मनुष्य को करना है, तप उसे करने की क्षमता को बढ़ाता है। तीसरा स्कन्ध विद्या का सामान्य प्रबन्ध है। यह कार्य आजकल प्रायः राज्य का उत्तरदायित्व समझा जाता है। किसी नसल का प्रमुख काम यह होता है कि वह आने वाली नसल को समाज का काम चलाने और इसे आगे बढ़ाने के योग्य बनाये। व्यापक शिक्षा इसका साधन है।

पहले स्कन्ध में यज्ञ और दान का जिक्र हुआ है। दान किसी दूसरे की सामयिक कठिनाई को दूर करना है। सामयिक कठिनाई को : यदि कोई श्रेणी भीख मांगना अपना पेशा बना ले, तो यह समाज के लिये कलंक बन जाती है। शास्त्रों में दान की महिमा में बहुत कुछ कहा गया है; आधुनिक विचार के अनुसार वह व्यवस्था ही दूषित है, जिसमें कुछ लोग अपना गुजारा भी नहीं कर सकते, और कुछ ऐसे हैं जिनके पास अपनी आवश्यकताओं से बहुत अधिक पड़ा है। आधुनिक विचार के अनुसार प्रत्येक को अच्छा पड़ोसी बनना चाहिये, अर्थात इस बात के लिये तैयार रहना चाहिये कि यदि कोई दूसरा आकस्मिक कठिनाई में फंस जाये, तो वह उस कठिनाई में दूसरे की सहायता कर दे।

दान में यह त्रुटि भी आ घुसती है कि दान लेने वाला हीनता भाव का शिकार हो जाता है, और देने वाला अभिमान करता है कि वह ऊंचे स्तर पर है। यज्ञ की हालत में यह त्रुटि नहीं होती। यज्ञ सामान्य स्थिति को अधिक हितकर बनाता है, जिससे सर्वसाधारण को लाभ होता है। यज्ञ करने वाला जानता भी नहीं कि उसके कर्म से किसे लाभ पहुंचेगा; लाभ उठाने वाले भी प्रायः नहीं जानते कि उन्हें सहायता कहां से मिलती है। परोपकार के सारे काम यज्ञ के तले आ जाते हैं।

यज्ञ की बाबत उपनिषद में विस्तार से कहा गया हैं। प्राचीन साहित्य में 'अश्वमेध' यज्ञ का जिक्र आता है। 'अश्व' का अर्थ 'समग्र' है। ध्यान से देखो तो

सारा विश्व यज्ञरूप ही है। उपनिषद में कहा गया है कि आरम्भ में देवों ने यज्ञ किया, मनुष्यों को भी करना चाहिए। देव तो अब भी यज्ञ कर रहे हैं। मनुष्यों का जीवन अन्न पर निर्भर है। पृथिवी में अन्न की सामग्री विद्यमान है, परन्तु बीज उस सामग्री को अपना अन्श उसी हालत में बना सकते हैं, जब पृथिवी कठोर ढेले के रूप में न हो, अपितु उसके अंश एक दूसरे से अलग हों। जल यह परिवर्तन करता है। जल वर्षा के रूप में पृथिवी के विविध भागों पर गिरता है। यह जल आता कहां से है ? समुद्र इसका भण्डार है। सूर्य की गर्मी से यह भाप के रूप में ऊपर उठता है। वायु उस भाप को पृथिवी के विविध स्थानों में पहुंचा देती हैं। ऊंची सतह पर यह भाप सर्दी के कारण पानी के कतरों में बदलती है, और पृथिवी का आकर्षण उन्हें नीचे खींच लाता है। सूर्य ने जल को भाप के रूप में समुद्र से ऊपर उठाया, वायु ने उसे विविध स्थलों पर पहुंचा दिया, पृथिवी का आकर्षण जल के कतरों को नीचे खींच लाया। आज पृथिवी पर तीन सौ करोड़ के करीब मनुष्य बस्ते हैं; पशु-पक्षियों की संख्या बहुत अधिक है। ये सब जीवित हैं, क्योंकि सूर्य,वायु और पृथिवी एक महान यज्ञ कर रहे हैं।

'अश्वमेध' के अतिरिक्त 'नरमेध' का भी जिक्र आता है। मनुष्य (नर) का जीवन भी यज्ञ का नमूना है। इस विचार को छान्दोग्य उपनिषद ने बहुत रोचक रूप में व्यक्त किया है। पहले दैनिक यज्ञों का वर्णन किया है; फिर जीवनकाल के यज्ञों का।

दैनिक यज्ञ और यजमान की कामनायें

वेद वेत्ता कहते हैं :—

प्रातः काल का यज्ञ वसुओं के लिये है, मध्यकाल का यज्ञ रुद्रों के लिये है, तीसरे पहर का यज्ञ आदित्यों और सभी देवों के लिये है।

'तो यजमान का लोक कहाँ है ? जिस मनुष्य को इसका ज्ञान नहीं, वह कैसे यज्ञ करेगा ? यज्ञ के फल को जानने वाला ही यज्ञ करता है'। (२ : २४)

इन यज्ञों में जो मन्त्र गाये जाते हैं, उन्हें वसु-साम, रुद्र-साम और आदित्य-साम का नाम दिया जाता है। यजमान किस लोक या अवस्था की प्राप्ति के लिये यज्ञ करता है ? यह उन प्रार्थनाओं से विदित होता है, जो इन यज्ञों में की जाती हैं।

'लोक के द्वार खोलदे'। हम तुम्हें राज्य के लिये देखें। मुझ यजमान के लिये लोक को प्राप्त कर। यही यजमान का लोक है, जिसे मैं प्राप्त करता हूं।

'लोक के द्वार खोल दे'। हम तुझे वैराज्य के लिये देखें। मुझ यजमान के लिये लोक को प्राप्त कर। यही यजमान का लोक है, जिसे मैं प्राप्त करता हूं'।

'लोक के द्वार खोल दे। हम तुझे स्वाराज्य के लिये देखें। मुझ यजमान के लिये लोक प्राप्त कर। यही यजमान का लोक है, जिसे मैं प्राप्त करता हुं'। (२:२४)

प्रातः यज्ञ में 'राज्य' की प्राप्ति की याचना की जाती है, मध्याह्न यज्ञ में 'वैराज्य' की प्राप्ति के लिये, और तीसरे पहर के यज्ञ में 'स्वाराज्य' की प्रार्थना है। इन तीनों शब्दों का अर्थ क्या है ? 'राज्य' का अर्थ साधारण शक्ति है; 'वैराज्य' उससे उत्तम शक्ति है, इसे नैतिक बल कह सकते हैं, 'स्वाराज्य' सर्वोत्तम दिव्य शक्ति या आध्यात्मिक शक्ति है।

'लोक' को 'अवस्था' के स्थान में देश के अर्थ में लें, तो 'राज्य' का अर्थ वह शक्ति है जो पृथिवी पर हम प्राप्त करते हैं। 'वैराज्य' का अर्थ अन्तरिक्ष की शक्तियों पर शासन है; 'स्वाराज्य' का अर्थ देवलोक की शक्ति का प्रयोग है। पृथिवी पर हम अग्नि और जल से काम लेते हैं; अब विजली भी प्रयुक्त होती है। अन्तरिक्ष में वायु प्रमुख शक्ति है। चिर काल तक जहाज भी इसी शक्ति से चलते रहे। देवलोक की शक्ति को हम स्पष्ट रूप से काम में नहीं ला सके। जो लकड़ी या पत्थर का कोयला हम जलाते हैं, वह सूर्य की गर्मी से पकता है, अप्रत्यक्ष रूप में इनका प्रयोग देवलोक की शक्ति का प्रयोग ही हैं। परन्तुं जो असीम शक्ति सूर्य के रूप में निरन्तर पृथिवी पर पहुंचती है; उसका स्पष्ट प्रयोग अभी नहीं हो सका। जब कभी हो सकेगा, रसोई का काम, रेल गाड़ियों और कारखानों का चलना सुगम और सस्ता हो जायगा।

जीवन-काल के यज्ञ

यदि एक दिन को नहीं, अपितु जीवन-काल को एकाई समझें, तो इसमें भी तीन यज्ञ होते है, इनका वर्णन तीसरे प्रपाठक में दिया है।

'पुरुष यज्ञ—स्वरूप है। उसके जीवन में पहले २४ वर्ष प्रातः सवन (यज्ञ) है'। इस यज्ञ में वसुदेव हैं। गायत्री में २४ अक्षर हैं; इसी से प्रातः यज्ञ किया जाता है। मनुष्य में प्राण वसुओं के प्रतिनिधि हैं; यह सबको बसाते हैं।

यदि आयु के इस भाग में कोई रोग आ पकड़े तो वह कहे—'हे प्राणरूप वसुओ ! अभी तो मैं प्रातः काल का यज्ञ कर रहा हूं; मुझे दोपहर का यज्ञ भी करना है। मैं जो यज्ञरूप ही हूं, वसुओं के लिये मिट न जाऊं। इस तरह वह रोग से बचा रहता है।

४४ वर्ष तक दूसरा यज्ञ चलता है। त्रिष्टुप छंद में ४४ अक्षर हैं। दोपहर का यज्ञ इससे किया जाता है। रुद्र इस यज्ञ के देव हैं। मनुष्य में प्राण ही रुद्र हैं। वही उसे कठोर परिश्रम के योग्य बनाते हैं (रुलाते हैं)।

यदि इस काल में उसे कोई रोग आ पकड़े, तो वह कहे :—'प्राण-रूप रुद्रो! यह तो दोपहर का यज्ञ है; इसे तीसरे पहर के यज्ञ से युक्त करो, ताकि मैं जो यज्ञ-रूप ही हूं, रुद्रों के लिये विनष्ट न हो जाऊँ।' इस तरह वह रोग से बचा रहता है।

जीवन का तीसरा भाग, जो अड़तालीस वर्ष तक चलता है, तीसरे पहर का यज्ञ है। जगती छंद में अड़तालीस अक्षर होते है; यह यज्ञ जगती से किया जाता है। आदित्य इस यज्ञ के देव हैं। मनुष्य में प्राण ही आदित्य हैं, क्यों कि यही उसे सब कुछ 'ग्रहण करने की योग्यता' देते हैं। यदि आयु के इस भाग में कोई रोग आ पकडे तो वह कहे :—

प्राण-रूप आदित्यो! यह तो मेरे तीसरे पहर के यज्ञ का काल है; इसे मेरे पूरे जीवन के साथ युक्त करो, ताकि मैं जो यज्ञरूप ही हूं, प्राण-रूप आदित्यों के लिये विनष्ट न हो जाऊँ।' इस तरह वह रोग से बचा रहता है।'

इस विवरण के आरम्भ में ही कहा गया है कि मनुष्य यज्ञ-स्वरूप है। यह एक महत्वपूर्ण कथन है। मनुष्यों में बहुसंख्या अपने या अपनों के लिये जीवन पर्याप्त समझती है। कुछ अपने हित को सर्वहित में विलीन कर देते हैं। इनका जीवन यज्ञ-स्वरूप है। इनका यत्न यह होता है कि जिस स्थिति में इन्होंने समाज को पाया था, उससे बेहतर स्थिति में उसे छोड़ें। इन लोगों का जीवन सार्वजनिक होता है। वृक्षों पर फल लगते है; कुछ पककर उससे अलग होते हैं; बहुतेरे पकने से पहले ही आंधी से गिर पड़ते हैं, या मार्ग पर चलने वाले इन्हें तोड़ लेते हैं। जो फल पककर गिरता है, वह कुदरती जीवन क्रम से गुजरता है। ऐसा ही भेद मनुष्यों की हालत में भी होता है; कुछ लोग कुदरती मौत मरते है, उनका शारीरिक यन्त्र अपना काम कर चुकने के बाद बेकार हो जाता है। ऐसी मृत्यु को कुदरती कहा जाता है, परन्तु १०० मनुष्यों में यह १०—१२ से अधिक के भाग्य में नहीं होती, बहुसंख्या तो किसी हादसे या रोग से समाप्त होती है। जब जीवन के किसी भाग में रोग आ पकड़े, तो वह मनुष्य जिसने जीवन को यज्ञरूप बनाया है, जिसका जीवन सर्वहित के लिये मूल्य रखता है, कह सकता है कि उसे समाप्त न किया जाये, क्योंकि वह यज्ञ कर रहा है। उसकी याचना हेतु युक्त है, और वह रोग से बच रहता है। जो मनुष्य केवल अपने या अपनों के लिये जीता है वह तो रोगी होने पर इतना ही कह सकता है—'मुझे जीने दो, क्योंकि मैं जीता रहना चाहता हूं।'

जीवन-काल के तीन यज्ञों के देव कौन हैं ? पहले यज्ञ के देव वसु हैं; यह 'बसाने वाले' हैं। जीवन के पहले २४ वर्ष इस बात में गुजरते हैं कि व्यक्ति अपने लिये कोई ठिकाना या निवास-स्थान ढूंढ़े। शिक्षा का उद्देश्य यही है। भारत में जो शिक्षा आज कल दी जाती है, उस पर आलोचना की जाती है कि वह बदली हुई स्थिति में प्रयोजन–हीन हो गयी है। कुछ लोग अपने लिये कोई ठिकाना ढूंढ़ लेते हैं, शेष अपने लिये कोई ठिकाना नहीं देखते। जीवन का दूसरा यज्ञ कड़े परिश्रम का काल हैं। इसके देव रुद्र हैं, वह व्यक्ति को चैन से बैठने नहीं देते; भोग का समय तो दूसरे यज्ञ के बाद आयेगा। यह यज्ञ ४४ वर्ष की आयु तक चलता हैं। इसके बाद काम तो जारी रहता है, परन्तु जो कुछ कोई व्यक्ति बन सकता है, वह २० वर्षों में बन जाता है। डाक्टर, वकील, प्रोफ़ेसर, लेखक प्रायः ४४ वर्ष की आयु में अपनी सम्भावनाओं के शिखर पर जा पहुंचते हैं। जो इन वर्षों में कुछ नहीं बन सका, वह आगे क्या बनेगा ? पेशों में काम करने वाले पीछे तो इन बीस वर्षों की कमाई पर जीते हैं। जितना समय अपना काम कर सकते हैं, आराम में गुजारते हैं; उसके बाद तो आराम का समय होता ही है। इस यज्ञ के देव आदित्य हैं—वे हमें ग्रहण करने के योग्य बनाते हैं। जीवन के पहले भाग में मनुष्य बढ़ता है, दूसरे भाग में फलता है। तीसरा भाग फल खाने का होता है।

तीनों देवों की बाबत उपनिषद कहती है कि मनुष्य की हालत में प्राण ही वह देव हैं। इस से क्या अभिप्रेत है ? प्राण जीवन–शक्ति है। जीवन का पहला भाग शारीरिक बल को संचय करने का काल है। इस भाग में व्यक्ति शक्ति बैंक में डालता अधिक है, निकालता कम है। जीवन का दूसरा भाग कड़ें परिश्रम का समय है। इसके देव रुद्र भी मनुष्य की हालत में प्राण ही हैं। जिस मनुष्य में शारीरिक बल नहीं, वह कड़े परिश्रम के योग्य ही नहीं। तीसरे भाग में भी देव प्राण ही हैं। कमाई के भोगने के लिये भी स्वास्थ्य की आवश्यकता है। यदि कोई मनुष्य बेसमझी से जीवन के दूसरे भाग में स्वास्थ्य को खो देता है, तो तीसरे भाग में क्या आनन्द ले सकता है ? राम ने श्याम से कहा 'सुना है, बेचारा गोपाल चल बसा। शोक है। हुआ क्या ?' श्याम ने कहा—'कोई विशेष बात नहीं'। साधारण स्थिति में मृत्यु हुई। पहले उसने धन के लिये स्वास्थ्य को खोया, पीछे स्वास्थ्य के लिये धन को खोया। दोनों न रहे, तो चल बसा।,

मनुष्य के लिये प्राण ही वसु हैं, प्राण ही रुद्र हैं, प्राण ही आदित्य हैं । शारीरिक बल और स्वास्थ्य न हो, तो जीवन का हरेक भाग नीरस होता है । हम इससे चिपटे रहते हैं परन्तु यह तो मोह का खेल है ।

उपनिषद के कथन के अनुसार तीसरा यज्ञ ४८ वर्ष में समाप्त होता है । जब कोई मनुष्य २४+४४+४८=११६ वर्ष का होजाये, तो सार्वजनिक जीवन में उसके लिये कोई स्थान नहीं रहता । यदि उसके बाद उसे कोई रोग आ पकड़े, तो जीता रहने के लिये और चाहे जो कुछ वह कहे, पर यह कहने का अधिकार उसे नहीं है कि वह यज्ञ कर रहा है, उसे अभी छोड़ दिया जाये । आजकल तो सार्वजनिक जीवन का समय इससे कई वर्ष पहले समाप्त हो जाना चाहिये । जहांतक व्यक्तिगत जीवन का संबन्ध है, हरेक अपनी हालत में देख सकता है कि स्वयं उसके लिये जीवन का मूल्य भावात्मक है या अभावात्मक । दूसरे तो अपनी सम्मति प्रकट करने में झिझकते हैं ।

आर्य दर्शन और धर्म

हमारी ज्ञान—इन्द्रियां बाहर की ओर खुलती हैं, हम आप बाहर की ओर देखते हैं। कभी अन्दर की ओर देखते हैं, और कभी कभी ऊपर की ओर भी देखते हैं। यह भेद प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिकों में स्पष्ट दिखाई देता है। सुकरात प्राय: अन्दर की ओर देखता था ; नीति में उसे विशेष अनुराग था। प्लेटो कुछ समय के लिये द्यौलोक से पृथिवी पर आया था, और इस काल में भी उसका ध्यान द्यौलोक पर ही लगा रहा : तत्व—ज्ञान उसके लिये विशेष अनुराग का विषय था। अरस्तू की आंखें, बाहर की ओर देखती थीं : उसका दृष्टिकोण प्रमुख रूप में वैज्ञानिक था।

इसी प्रकार का भेद हम भारत के दर्शनों में भी देखते है। बाह्य जगत, आत्मा और परमात्मा इनके चिन्तन के विषय हैं; एक शाखा में स्वयं चिन्तन चिन्तन का विषय है।

भारती दर्शन की ६ प्रमुख शाखायें तीन जोड़ों में विभक्त होती हैं—

(१) सांख्य और योग

(२) न्याय और वैशेषिक

(३) पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा

प्रत्येक दर्शन, जैसा होना ही चाहिये, आरम्भ में ही अपने विषय की बाबत कह देता है।

पहली सांख्य 'कारिका' कहती है—

'तीन प्रकार का दुख चोट लगाता है; इस लिये उसकी अत्यन्त निवृत्ति के कारण की जिज्ञासा होती है।'

जब हम किसी प्रकार के दुख को अनुभव करते हैं, तो उसे दूर करने का उपाय कर लेते हैं। भूख—प्यास से उत्पन्न दुख को खा—पी कर दूर कर देते हैं ; कुछ घंटों के बाद यह फिर हमें आ पकड़ते हैं। सांख्य दुखों की अत्यन्त निवृत्ति की खोज करना चाहता है, और ज्ञान को इस निवृत्ति का कारण बताता है।

योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है। यह निरोध कठिन मानसिक उद्योग का फल है। इस उद्योग में धारणा, ध्यान और समाधि तीन अन्तिम मंजिलें हैं। यात्रा के आरंभ में ही, आत्म—संयम की आवश्यकता होती है। इस संयम के दो पक्ष हैं—एक व्यक्तिगत, दूसरा सामाजिक। पहले संयम को योग की परिभाषा में 'नियम' कहते हैं, दूसरे को 'यम'। दोनों के पांच पांच आकार है, और यह १० आकार नैतिक जीवन का अच्छा चित्र प्रस्तुत करते हैं। परन्तु इनका मूल्य साधन का मूल्य है; जो यात्रा व्यक्ति को समाधि तक पहुंचाती है, उसका आरंभ नियमों और यमों से होता है।

सांख्य की तरह योग भी 'धर्म' को अपने विवेचन का प्रमुख विषय नहीं बनाता।

न्याय दर्शन का प्रमुख विषय 'प्रमाण' है। यदि हम स्वीकार करें कि सब मनुष्य मर्त्य है, और कृष्ण मनुष्य है, तो हमें यह अवश्य मानना होता है कि कृष्ण मर्त्य है। प्रमाणों के साथ उन विषयों पर भी विचार होता है, जिन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता होती है। न्याय या तर्क शास्त्र भी धर्म को अपने विचार का विषय नहीं बनाता। वैशेषिक की स्थिति आश्चर्यजनक है। जैसा इसके नाम से ही पता लगता है, यह 'विशेषों' की बाबत बताता है: ऐसे विशेषों की बाबत, जिनके ऊपर कोई 'सामान्य' नहीं। ऐसे विशेषों को 'परतम—जातियां' या 'कैटेगौरिज' का नाम दिया जाता है। सांख्य का उद्देश्य जगत के विकास की बाबत बताना था ; वैशेषिक जगत को उसकी वर्तमान स्थिति में लेता हैं, और देखना चाहता है कि इसमें कौन से ऐसे अंश या पक्ष हैं, जो किसी दूसरे में परिवर्तित नहीं हो सकते। ऐसे विशेषों को 'पदार्थ' का नाम दिया जाता है और वैशेषिक ६ पदार्थों 'का वर्णन करता है। यह इस दर्शन का प्रमुख विषय है, परन्तु किसी कारण से आदि और अन्त में एक भिन्न ध्वनि सुनाई देती है। दर्शन के पहले ४ सूत्र ये हैं—

(१) 'अब धर्म का व्याख्यान होता है।'
(२) 'धर्म वह है जिससे अभ्युदय और निः श्रेयस की प्राप्ति होती हैं।'
(३) 'धर्म का प्रतिपादक होने के कारण वेद प्रमाण है'

(४) 'धर्म विशेष से उत्पन्न हुए ६ पदार्थों द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—के तत्व-ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।'

अन्त में भी धर्म की ओर संकेत किया है।

इन चारों सूत्रों में हरेक में कुछ विशेषता दिखाई देती है। पहले सूत्र में धर्म का व्याख्यान लेखक का उद्देश्य बताया गया है। सांख्य दर्शन में दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के कारण की 'जिज्ञासा' लक्ष्य है। पूर्वमीमांसा में 'धर्म-जिज्ञासा' और उत्तरमीमांसा में 'ब्रह्मजिज्ञासा' लक्ष्य हैं। 'व्याख्यान' और 'जिज्ञासा' में पर्याप्त भेद है। व्याख्या करने वाला इस दावे के साथ आरंभ करता है कि उसे विचाराधीन विषय के संबन्ध में ज्ञान प्राप्त है; वह दूसरों की सीमाओं को ध्यान में रखकर रहस्यों का स्पष्टीकरण करना चाहता है, ताकि दूसरों को भी अपने ज्ञान में साझी बना सके। जिज्ञासु, कहता है—'मैं सत्य की खोज कर रहा हूँ; जो कुछ इस खोज का परिणाम होगा, वह अभी तो भविष्य के गर्भ में छिपा है। यदि कोई दूसरा इस प्रयत्न में मेरे साथ होगा, तो जो कुछ मुझे पता लगेगा, वह मेरे साथी की दृष्टि में भी आ जायेगा। जिज्ञासा में नम्रता का भाव मिला होता है; व्याख्यान में ऐसा नहीं होता।

दूसरे सूत्र में 'धर्म' का लक्षण किया गया है। आधुनिक काल में नई दुनियां, अमेरिका, में व्यवहारवाद प्रिय दृष्टिकोण है। एक ऐसे देश में जिसमें अत्यन्त अप्रयुक्त सामग्री मौजूद हो ऐसे मनुष्य सहस्रों लाखों की संख्या में पहुंच गये जो अपने देशों में शारीरिक बल में अग्रसर थे, जिन के हृदयों में लौकिक कुशलता के लिये उल्लास मौजूद था। परिणाम वही हुआ, जो होना था। उन्होंने अपने परिश्रम से अमेरिका का चित्र ही बदल दिया, और अब वे दुनिया की सबसे शक्तिशाली जाति हैं। इन लोगों का दार्शनिक दृटिकोण स्वाभाविक ही यह होना चाहिये कि हरेक 'मूल्य' से पूछें कि वह मानव-जीवन में क्या परिवर्तन कर सकेगा। इसी प्रकार की भावना के साथ वैशेषिक दर्शन में 'धर्म' का लक्षण किया गया है; 'धर्म वह है, जिस से 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' की प्राप्ति होती है। अभ्युदय लौकिक कुशलता और सफलता है; निः श्रेयस परम-भद्र है—जो भद्र की पराकाष्ठा है। यह परम-गति या मोक्ष है। इन दोनों में निःश्रेयस का पद बहुत ऊँचा है—इस से परे कुछ है ही नहीं। वैशेषिक में अभ्युदय के विश्लेपण और उसकी प्राप्ति के संबन्ध में कुछ नहीं कहा; दर्शन का सारा 'व्याख्यान', जैसा हम अभी देखेंगे, निःश्रेयस प्राप्ति के साधन के अर्पण किया गया है।

पश्चिम में दर्शन शास्त्र के दो प्रमुख भाग स्वीकार किये जाते हैं—तत्व—ज्ञान और ज्ञान—मीमांसा। तत्व—ज्ञान का रहस्य यूनानी विवेचन में स्वीकृत है।

शतियों तक इसे ही दर्शन समझा जाता रहा। दर्शन का इतिहास वाद विवाद और खंडन की कथा है। नवीन काल मे डेकार्ट ने इसे दृढ़ नीवों पर रखने का यत्न किया। इंग्लैंड में जान लाक ने कहा कि सत्ता को जानने से पहले हमें यह जानना चाहिये कि हमारा ज्ञान जा कहां तक सकता है। जर्मनी के दार्शनिक कांट ने ज्ञान–मीमांसा को दार्शनिक विवेचन के केन्द्र में रख दिया। भारत में आरंभ से ही इस मीमांसा के महत्व को माना गया है : दर्शन की हरेक शाखा में 'प्रमाण' के स्वरूप पर विचार हुआ है। तीन प्रमुख प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द हैं। शब्द प्रमाण में वेद प्रमुख है। मनुस्मृति (२:१३) का कथन है कि 'धर्म के जिज्ञासुओं के लिये परम प्रमाण श्रुति है'। यह सामान्य मान्यता है।तीसरे सूत्र में वैशेषिक ने भी इसे स्पष्ट किया है। प्रत्यक्ष विशेष तथ्यों का ज्ञान देता है; अनुमान इस पर आधारित होता है। धर्म का सम्बन्ध तथ्यों को देखना नहीं, अपितु शुभ और अशुभ में भेद करना है : मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इसमें परम प्रमाण वेद है: ईश्वरीय इच्छा का प्रकाश है।

चौथे सूत्र में नि:श्रेयस की प्राप्ति को विशेष प्रकार के ज्ञान का परिणाम बताया गया है। यह दृष्टिकोण बहुतेरे लोगों को अजीब सा प्रतीत होता है। उनकी दृष्टि में इतिहास, भूगोल, गणित, अर्थशास्त्र की तरह दर्शन भी अध्ययन का एक विषय है। कोई ममुष्य यह दावा नहीं करता कि इतिहास, भूगोल या गणित के अध्ययन से परमगति की प्राप्ति होती है। ; तत्वज्ञान के सम्बन्ध में यह दावा क्यों किया जाता है ? बात यह है कि भारत में दर्शन को केवल अध्ययन के रूप में नहीं देखा जाता ; यह एक प्रकार के जीवन से गठित है। गीता में कहा है कि ज्ञान के बराबर कोई पवित्र करने वाला साधन नहीं। योग का उद्योग केवल उन लोगों के लिये है, जो नियमों और यमों के प्रयोग से अपने जीवन में संयम बना चुके हों। सांख्य दर्शन में तत्व–ज्ञान को दुखों की अत्यन्त निवृत्ति का साधन बताया है ; वैशेषिक एक पग आगे जाता है, और इसे नि:श्रेयस प्राप्ति का साधन बताता है। यह ज्ञान छः पदार्थों का बोध है। 'पदार्थ' किसी 'पद' या शब्द का विषय (अर्थ) है। पारिभाषिक अर्थ में यह 'परतम जाति' या ऐसा 'विशेष' है, जिसके ऊपर कोई सामान्य नहीं। वैशेषिक दर्शन में 'परतम जातियों' की बाबत विचार किया गया है। पश्चिम में यह विचार का विषय बना रहा है। अरस्तू ने परतम जातियों की सूची प्रस्तुत की, जिसमें द्रव्य को प्रथम स्थान दिया। उसकी शेष 'परतम जातियां वास्तव में 'गुण' के आकार ही हैं। गुणों के भेद से ही हम विविध द्रव्यों में भेद करते हैं। बकरी, घोड़ा, चांदी, त्रिकोण और फूल में गुणों के भेद पर ही भेद किया जाता है। पश्चिम में लाइबनिज़ ने कहा कि 'गुण' नहीं, अपितु 'क्रिया' द्रव्य का विशेषण है। भौतिक पदार्थों में 'विस्तार' प्रमुख गुण है। उसने विस्तार के साथ

प्रकृति के अस्तित्व को भी अस्वीकार किया और सारी सत्ता को चेतनों (चिद्बिंदुओं) के रूप में देखा। वैशेषिक दर्शन में द्रव्य के साथ गुण और क्रिया दोनों को परतम जातियों का पद मिला है। यह तीन प्रथम 'पदार्थ' हैं। इन तीनों की स्वाधीन सत्ता है। शेष तीन 'पदार्थ' बुद्धि की देन हैं। सूत्र १: २: ३ में कहा है—

'सामान्य' और 'विशेष' का भेद बुद्धि की अपेक्षा से होता है।

हम गौ, घोड़ा, हाथी, कबूतर, कौवा आदि जन्तुओं को देखते हैं। उन्हें विविध उपजातियों में रखते हैं और सब उपजातियों को पशु-पक्षी जाति के तले रखते हैं। जगत में तो हरेक प्राणी एक वस्तु है, बुद्धि उन्हें उपजातियों और जातियों में व्यवस्थित देखती हैं। समवाय संबन्ध द्रव्यों में नहीं होता, परन्तु किसी द्रव्य और उसकी कृतियों में होता है। विशेष रूप, रंग, कोमलता आदि गुण किसी द्रव्य में पाये जाते हैं; स्वाधीन स्थिति में नहीं विचरते। मैं बाजार में जाता हूं, और दुकानदार से कहता हूँ—'मुझे कुछ मिठास चाहिये।' वह कहता है—'मिठास तो मेरे पास है नहीं; मीठी वस्तुयें हैं, वह दे सकता हूँ।'

वैशेषिक के ६ पदार्थों में पहले तीन तात्विक दृष्टिकोण और शेष तीन मीमांसा के दृष्टिकोण की देन हैं।

पूर्व मीमाँसा

भारती दर्शन में मीमांसा के दो भाग हैं—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। उत्तर मीमांसा वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध है। दोनों भागों का आरंभ इस तरह होता है—

पूर्वमीमांसा: 'और अब धर्मजिज्ञासा'
उत्तर मीमांसा: 'और अब ब्रह्म जिज्ञासा'

वर्तमान अध्ययन में हमारा विशेष संबंध पूर्व मीमाँसा से है।

दूसरे सूत्र में धर्म के स्वरूप की बाबत कहा है—'चोदना-लक्षण वाला अर्थ धर्म है।'

चोदना का अर्थ प्रेरणा, उपदेश है।

इस कथन के भाव को समझने के लिये हमें 'तथ्य' और 'मूल्य' में भेद करना होता है। वाक्य निर्णय का शाब्दिक प्रकटन है। निर्णय दो प्रकार का होता है। तर्क के निर्णय में दो प्रत्ययों के संयोग या असंयोग की बाबत कहा जाता है। "पृथ्वी गोल है," 'त्रिकोण बुद्धिवन्त नहीं।' यह निर्णय सत्य या असत्य होते हैं। दूसरे प्रकार का

निर्णय न्यायालय में दिया जाता है। यह किसी अभियुक्त को दोषी या निर्दोष ठहराता है। नैतिक निर्णय तर्क के निर्णय से नहीं, अपितु न्यायालय के निर्णय से मिलता है : यह किसी आचार या आचरण को शुभ या अशुभ, दोषयुक्त या दोष-रहित बताता है।

यहां 'नियम' का प्रत्यय हमारे समक्ष आ जाता है। हम प्राकृतिक नियम, राज-नियम और नैतिक नियम का जिक्र करते हैं। प्राकृतिक नियम अबाध है। गंगा गंगोत्तरी से चलती है और बंगाल-खाड़ी में जा गिरती है। यह ऐसा करने में विवश है। पृथिवी की आकर्षण-शक्ति जल को ऊपर से नीचे ले जाती है। फल वृक्ष का भाग बना रहे तो ऊपर रहता है ; वृक्ष से अलग होने पर नीचे आ गिरता है। राज-नियम नागरिकों को नियत व्यवस्था में रखने के लिये निर्मित होता है। इसके उल्लंघन करने वाले को दंड देने की व्यवस्था होती है। यह आदेश होता है, जिसकी उपेक्षा हो सकती है। नैतिक नियम न तो प्राकृत नियम की तरह अबाध स्थिति है, न राजनियम की तरह आदेश है ; यह चोदना का रूप है। प्राकृत नियम तथ्यात्मक है : ऐसा सदा होता ही है। राजनियम 'ऐसा करना पड़ेगा' का रूप धारण करता है। नैतिक नियम इतना ही कहता है—'ऐसा करना चाहिये।' 'चाहिये' और 'है' में मौलिक भेद है। धर्म 'चोदना' है ; हितकर उपदेश है।

विज्ञान की विविध शाखायें वास्तविकता का अध्ययन करती हैं। भौतिकी बताती है कि प्रकृति की क्रिया कैसी होती है। जीवन-विद्या बताती है कि जीवन का विकास कैसे होता है। मनोविज्ञान मनुष्य के मन की बनावट और क्रिया की बाबत बताता है ; समाज-शास्त्र बताता है कि व्यक्ति समाज के सदस्य की स्थिति में कैसे विचरता है। विकासवादी स्पेन्सर ने कहा कि जो नियम प्रकृति के विकास में लागू होता है, वही नैतिक विकास में भी लागू होता है। जीवन विद्या के भक्त कहते हैं कि नीति जीवन को लंबाई और चौड़ाई में विकसित करना ही है। भोग-वादी कहता है कि व्यक्ति अपनी प्रकृति से सुख की प्राप्ति का यत्न करता है, यही उसका कर्तव्य है। समाजवादी कहता है कि व्यक्ति का कर्त्तव्य समाज में व्यवस्था बनाये रखना है। यह सब विचार 'है' और 'चाहिये' में भेद नहीं करते ; इनके मतानुसार तथ्य से धर्म निकल सकता है। पूर्व मीमांसा के अनुसार ऐसा नहीं हो सकता: धर्म चोदना रूप है। यह इस दर्शन की मौलिक धारणा है।

तथ्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, या उस निर्दोष अनुमान से जो प्रत्यक्ष पर आधारित होता है। प्रत्यक्ष किसी इन्द्रिय और बाह्य पदार्थ के स्पष्ट सम्पर्क का परिणाम होता है। धर्म इन्द्रियों का विषय ही नहीं, इसलिये प्रत्यक्ष इस में प्रमाण नहीं हो सकता। सूत्र ४ में इसे स्पष्ट शब्दों में कहा है—

'इन्द्रियों और बाह्य पदार्थों के संयोग से पुरुष को जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह प्रत्यक्ष है। वह ज्ञान धर्म में प्रमाण नहीं होता, क्योंकि उसमें इन्द्रियों का सम्पर्क पदार्थों से होता है।'

धर्म के संबन्ध में किसी व्यक्ति का निर्णय असंदिग्ध निर्णय नहीं हो सकता। जैमिनि इसे स्वीकार करता है और कहता है कि धर्म के आदेश व्यापक और न बदलने वाले हैं, और वेद में मिलते हैं। वेद का प्रमाण किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करता; वेद वाक्य स्वतः प्रमाण है।

पांचवें सूत्र में भी कहा है कि धर्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं होता ; यह वेद का उपदेश है जिसमें किसी प्रकार का दोष या विरोध नहीं। अपने मत के समर्थन में जैमिनि यह भी कहता है कि उत्तर मीमांसा में बादरायण ने भी यही कहा है।

ज्ञान और कर्म

धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति का साधन है। सांख्य ने एक प्रकार के ज्ञान को दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का साधन बताया। इस निवृत्ति को अभ्युदय का रूपान्तर समझ सकते हैं। वैशेषिक ने एक प्रकार के ज्ञान को निःश्रेयस प्राप्ति का साधन बताया। दर्शन की दोनों शाखाओं ने ज्ञान को प्रमुख पद दिया। पूर्वमीमांसा का दृष्टिकोण इस के विपरीत है। वह कर्म को प्रमुख पद देता है। किसी कर्म के करने के लिये आवश्यक है कि हम उसके मूल्य को समझें और यह जानें कि उसे करने के उचित उपाय क्या हैं। ज्ञान मूल्यवान है, परन्तु इसका मूल्य साधन का है। मीमांसा में कर्म को प्रायः कर्मकांड के अर्थ में लिया गया है। यज्ञ करने में सम्पत्ति का त्याग करना होता है। यह त्याग गृहस्थ के लिये संभव है। वानप्रस्थी को तो पिछली कमाई की बचत पर बुरा-भला गुजारा करना होता है, और संन्यासी के पास तो अपना कुछ होता ही नहीं। कर्म (कर्म कांड) की प्राथमिकता का परिणाम यह है कि जैमिनि की दृष्टि में गृहस्थ का स्थान आश्रमों में सर्वोपरि है। कर्मकांडी गृहस्थी का पद संन्यासी के पद से ऊंचा है।

कर्म के आकार

कर्म तीन प्रकार के हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। अग्नि होत्र नित्य कर्म है। जो यज्ञ विशेष अवसरों पर करने होते हैं, उन्हें नैमित्तिक कर्म कहा जाता है। यह दोनों कर्म आदेश हैं; इन्हें करना ही चाहिये। काम्य कर्मों में कर्त्ता की इच्छा निश्चय करती है। विशेष कामना की पूर्ति के लिये विशेष कर्म करना होता है। जो मनुष्य ऐसी इच्छाओं से ऊपर हो चुका है, उसके लिये काम्य कर्म रहते ही नहीं।

यज्ञ करने के लिये यज्ञशाला बनानी होती है। संभव हो तो इसे आकर्षक रूप दिया जाता है। जिन लोगों को निमन्त्रित किया जाता है, उन्हें बिठाने के लिये उचित प्रबन्ध किया जाता है। यज्ञ के लिये सामग्री चाहिये, और आहुतियों के साथ वेदमन्त्र पढ़ने वाले विद्वान चाहिये। इन आवश्यक अंशों में मीमांसा दर्शन प्रधान और गौण का भेद करता है। 'द्रव्य' और 'देव' दो प्रधान अंश हैं। कुंड में सामग्री की आहुतियां देना और साथ वेद मन्त्रों का पढ़ना प्रधान अंश हैं। मन्त्र पाठ के बिना सामग्री कुंड में डालने से वायुमंडल की शुद्धि होती है; निरे मन्त्र पाठ से धर्म-भाव विकसित होता है। परन्तु इन दोनों में कोई क्रिया भी यज्ञ नहीं। शेष जो कुछ यज्ञ को आकर्षक बनाने के लिये किया जाता है, वह गौण है। कुछ लोग इन दोनों अंशों में भी मन्त्र पाठ को गौण बताते थे, परन्तु जैमिनि उनसे सहमत नहीं।

कर्म का फल अवश्य मिलता है: शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है। अनुभव तो नहीं बताता कि सदा ऐसा होता है। जैमिनि कहता है कि इस सम्बन्ध में हमें भ्रम इसलिये होता है कि हमारा दृष्टिकोण संकुचित होता है।

कर्म का फल मिलता कब है; जैमिनि के सम्मुख उसी प्रकार की कठिनाई खड़ी थी, जैसे पीछे डार्विन के सम्मुख आ खड़ी हुई। डार्विन का मत था कि कोई भौतिक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ पर सम्पर्क में आये बिना कोई क्रिया नहीं कर सकता। जब न्यूटन ने कहा कि आकर्षण में दो पदार्थ जिनमें अन्तर होता है, एक दूसरे पर क्रिया करते है, तो डार्विन न्यूटन के सिद्धान्त को अस्वीकार नहीं कर सका, परन्तु यह समझ नहीं सका कि ऐसा हो कैसे सकता है। डार्विन की कठिनाई देश अन्तर के कारण थी; जैमिनि की कठिनाई काल-अन्तर से पैदा हुई। कारण और कार्य में काल-अन्तर होता है। कार्य के व्यक्त होने से पहले कारण तो अभाव में जा पहुंचता है; फिर कार्य की उत्पत्ति अकारण ही समझनी चाहिये। इस

कठिनाई के समाधान में जैमिनि ने कहा कि कारण एक शक्ति को उत्पन्न कर देता है; यह शक्ति अदृष्ट रूप में विद्यमान रहती है, और उचित समय आने पर परिणाम को व्यक्त कर देती है।

यज्ञ के सम्बन्ध में यह तो सामान्य मान्यता है कि इसका फल मिलता है। कुछ याजक आप यज्ञ करते हैं; कुछ धनी लोग यज्ञ का सारा प्रबन्ध कर देते हैं, इसके लिये आवश्यक व्यय करते हैं, परन्तु यज्ञ करते अन्य लोग हैं। इस स्थिति में फल का भागी कौन है? मीमांसा के अनुसार फल यज्मान का भाग है; जिन लोगों ने मन्त्र-पाठ किया है, उन्होंने तो दक्षिणा के रूप में अपने समय और श्रम का मूल्य ले लिया है। मीमांसा में यह भी कहा है कि विशेष यज्ञों के करने के पहले यजमाय दो या तीन दिन अनशन करे। संयम की आशा तो सबसे की जाती है; तप एक पग आगे जाता है : यह शरीर पर आत्मा की प्रभुता की घोषणा है। जो कुछ हम करते हैं, स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में प्राय: अपने और अपनों के लिए करते हैं। परार्थ दृष्टि में हो, तो कर्म 'शेष' कहलाता है। यज्ञ ऐसा कर्म है। जो कुछ मुझे समाज से मिलता है, वह तो असीम सा है। हरेक के लिये भ्रमण के लिये मार्ग और बाग विद्यमान हैं, खेतियां बोई जाती हैं, कारखाने जूते, वस्त्र आदि बनाने में लगे हैं। शिक्षा और सुरक्षा का प्रबन्ध है। एक कथन के अनुसार किसी को ऋणी नहीं मरना चाहिये। हरेक को पूछना चाहिये कि उसने इस ऋण को चुकाने के लिये क्या किया है। मीमांसा में तो शेष कर्म को इतना महत्व दिया है कि स्वयं मनुष्य को शेष (यज्ञ) रूप में देखा है। यज्ञ-सामग्री कर्म के लिये है; वास्तव में मनुष्य भी ऐसे कर्म के लिये ही है। (३:१:६)

यजमान यज्ञ करता है। वह कुछ योग्य कार्य कर्त्ताओं को सहायता के लिये चुन लेता है। इन सहायकों की संख्या भी मीमांसा में आलोचना का विषय है। चार कार्य-कर्त्ता प्रमुख हैं : ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और अग्नीध। पूर्व मीमांसा में कर्म को कर्म कांड के अर्थ में लिया है। जब जैमिनि ने इसकी रचना की, स्थिति आज से बहुत भिन्न थी। अब तो हम एक नई दुनिया में रहते हैं। जिन प्रश्नों को जैमिनि ने विचार का विषय बनाया है, उनमें बहुत से आज के मनुष्यों के लिये कोई जीवित विषय नहीं। दार्शनिक विवेचन के ख्याल से भारती दर्शन में पूर्व मीमांसा से जो प्रकाश हमें मिलता है, वह दूसरे दर्शनों की अपेक्षा थोड़ा है। परन्तु जो कुछ जैमिनि ने कहा है, वह महत्वपूर्ण भी है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम शब्द से ऊपर उठकर 'अभिप्राय' की ओर देखें। हरेक शिक्षक के सम्बन्ध में यही उचित दृष्टिकोण है।

पूर्व मीमांसा में जो कुछ कहा है, उसमें प्रमुख बातें यह हैं :—

(१) धर्म 'चोदना' है। कर्त्तव्य वह क्रिया है जो मुझे करनी चाहिये। 'चाहिये' की वास्तविकता से निकला नहीं जा सकता।

(२) धर्म में परम प्रमाण वेद है। धर्म के नियम देश और काल के साथ बदलते नहीं : वे व्यापक और नित्य हैं।

(३) व्यक्ति के कर्म तीन प्रकार के होते हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। पहले दो प्रकार के कर्म नियत होते हैं; तीसरे प्रकार के कर्मों में व्यक्ति की इच्छा को दखल होता है।

(४) जो कर्म परार्थ किये जाते हैं, उन्हें 'शेष' कर्म कहते हैं, इनका पद स्वार्थ के लिये किये गये कर्मों से ऊँचा है। यज्ञ शब्द के अन्तर्गत सर्वहित के सभी काम आ जाते हैं।

(५) शीष कर्म में दो प्रधान अंश ये हैं :—

१. द्रव्य या सामग्री का त्याग किया जाये,

२. यह त्याग श्रद्धा के साथ किया जाये : यह देव पूजा का भाग हो

(६) हरेक बड़े यज्ञ में यजमान के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य-कर्त्ताओं की आवश्यकता है—ये कार्य कर्त्ता ब्रह्मा, होता, अध्नर्यु और अग्निध हैं।

पहले दो विषयों के सम्बन्ध में हम ऊपर कह चुके हैं। तीसरा विषय बहुत महत्व का विषय हैं।

जीवन का पहला भाग जीवन—निर्वाह की योग्यता प्राप्त करने में खर्च होता है। इस भाग की समाप्ति पर प्रत्येक अपने काम में लग जाता है। सामान्य स्थिति में नित्य कर्म हरेक के लिये नियत होता है। वकील, डाक्टर, अध्यापक, क्लर्क, दुकानदार सबको नियत सयय पर अपने काम पर पहुंचना होता है। कभी कभी विशेष कार्यों के लिये नित्य कर्म छोड़ना होता है यह भी व्यक्ति के लिये नियत होता है। अनुशासन का तत्व यह है कि व्यक्ति नियत कर्मों और काम्य कर्मों में भेद करे।

१९४७ में भारत स्वाधीन हुआ; नागरिकों का उत्तरदायित्व पहले से बहुत बढ़ गया। पहले हम सब दूसरों के लिये काम करते थे, अब अपने देश के लिये

काम कर सकते हैं। दुर्भाग्य से हरेक यह समझने लगा है कि स्वराज्य भारत को नहीं मिला उसे मिला है। वह नित्य और नैमित्तिक कर्मों को काम्य कर्म समझने लगा है। कर्मचारी नियत समय पर दफ्तर नहीं पहुंचते; श्रमी जब चाहते हैं, काम छोड़ देते हैं; विद्यार्थी यह नहीं समझते कि स्कूल कालेज का बन्द करना अध्यक्ष का काम है; उन्होंने इसे अपना अधिकार समझ लिया है। जीवन के हरेक पक्ष में आज आवश्यक हो गया है कि काम्य कर्मों के क्षेत्र को सीमित रखा जाये।

पूर्व मीमांसा में शेष कर्म को वहुत महत्व दिया गया है। असंकुचित अर्थ में, यज्ञ में सभी परोपकार के काम आ जाते हैं। ऐसे कामों में त्याग करना होता है। कितना त्याग ? यह एक कठिन प्रश्न है। मीमांसा का विचार यह प्रतीत होता है कि त्याग में कुछ तप सम्मिलित हो। जब मैं लोगों से मांगा करता था तो कुछ—सज्जन पूछते थे 'क्या दें' ? मैं कहता था—'उतना दो, जो कुछ चुभे।' त्याग अपने शरीर में कांटा चुभोना है।

त्याग के साथ श्रद्धा मिली होनी चाहिये। द्रव्य की आहुति के साथ देव-पूजा मिली होनी चाहिये। काम एक ही होता है, परन्तु जिस भाव से वह किया जाता है, वह उसे विशेष रूप दे देता है। एक मन्दिर बन रहा था; कुछ लोग उसके लिये पत्थर तोड़ रहे थे। एक दर्शक ने एक मजदूर से पूछा—'भाई' क्या कर रहे हो ?' उसने उत्तर दिया—'पत्थर तोड़ रहा हूं।' दर्शक ने दूसरे मजदूर से वही प्रश्न किया। उसने कहा 'बीवी बच्चों के निर्वाह का प्रबन्ध कर रहा हूं।' तीसरे मजदूर ने कहा—'मन्दिर बन रहा है; चिरकाल तक सहस्रों मनुष्य यहां पूजा करेंगे। मैं भी इसमें थोड़ा योग दे रहा हूं।' तीन मनुष्यों में जो एक ही काम कर रहे थे, उसे सबने भिन्न रूपों में देखा। एक ने भौतिक घटना से परे कुछ नहीं देखा; दूसरा पारिवारिक उत्तरदायित्व को बीच में ले आया; तीसरे ने इसे शेष के रूप में देखा।

मेरा सम्बन्ध शिक्षा के काम से रहा है। आज कल शिक्षक वर्ग में बहुत असंतोष है। कुछ आर्थिक कारणों से, कुछ अन्य कारणों से, मेरी सहानुभूति उनके साथ है, परन्तु वह अब किसी काम की नहीं। वर्तमान प्रसंग में मैं उनसे कहूंगा हरेक अपने आपसे पूछे कि वह क्या कर रहा है : पत्थर तोड़ रहा है, अपने चुने हुये पेशे में लगा है, या देश के लिये आने वाली नसल को बना रहा है।

हरेक यज्ञ के निर्माण में कुछ कार्यकर्त्ता आगे आते हैं। ब्रह्मा यज्ञ का विधाता होता है; सारे काम के पीछे उसका मस्तिष्क होता है; होता कुंड में हवि डालता है अध्वर्यु मंत्र पाठ करता है, और अग्निध देखता है कि कुंड में अग्नि

ठीक तौर पर जलती रहे। सर्वहित के लिये जो योजना भी बनाई जाये, उसे हम यज्ञ कह सकते हैं। एक ऐसी योजना के साथ मेरा यौवन से सम्बन्ध रहा है; उसी की बाबत मैं कुछ जानता हूं। अपने विचार को स्पष्ट करने के लिये, मैं उसी की बाबत कुछ कहूंगा।

स्वामी दयानन्द ने अपने प्रचार का काम १८६६ में आरम्भ किया। ८६ वर्षों के काम के बाद उन्हें प्रतीत हुआ कि कार्य को स्थिर रूप देना चाहिये : व्यक्ति से संस्था की आयु अधिक लम्बी होती है। १८७५ में उन्होंने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। दो वर्ष पीछे १८७७ में, लाहौर में समाज को इसका वर्तमान रूप दिया और इसके दस नियम बनाये। यही नियम अब हर कहीं समाज का मौलिक मन्तव्य समझे जाते हैं। आर्य समाज की स्थापना से स्वामी दयानन्द ने एक अखंड यज्ञ का आरम्भ किया। लाहौर समाज में राय मूलराज पहले प्रधान बने, लाला साईंदास पहले मन्त्रियों में एक मन्त्री थे। नियमों को निश्चित रूप देने में स्वामी जी को राय मूलराज का सहयोग प्राप्त हुआ। लाला साईंदास की प्रमुख देन यह थी कि वह हंसराज और लाजपतराय, दो नव युवकों को आर्य समाज में खींच लाये। स्वामी दयानन्द के देहान्त (१८८३) के बाद आर्य समाजियों ने लाहौर में निश्चय किया कि स्वामी जी की याद में और उनके काम को जारी रखने के लिये लाहौर में एक कालेज स्थापित किया जाये। स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज रूपी यज्ञ का निर्माण किया था; लाहौर में आर्य समाजियों का निश्चय एक उपयज्ञ का निर्माण था। इसके बाद अनेक स्थानों में शिक्षा के काम के लिये कालेज, स्कूल, गुरुकुल और पाठशालायें स्थापित हुईं। एक प्रचलित कथन के अनुसार, किसी कार्य के अच्छे आरम्भ में ही उसे आधी सफलता प्राप्त हो जाती है। पंजाब में सौभाग्य से आरम्भ बहुत अच्छा हुआ। शिक्षा के उपयज्ञ में लाला लालचन्द उपयज्ञ के ब्रह्मा थे; लाला हंसराज होता थे; लाला लाजपतराय अध्वर्यु थे : उनकी वाक्य शक्ति ने कालेज और समाज को प्रांत में सक्रिय बना दिया। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के सम्बन्ध में लाला मुन्शीराम (पीछे स्वामी श्रद्धानन्द) का नाम और कन्याओं की शिक्षा के सम्बन्ध में लाला देवराज का नाम स्मरणीय है। इन सबको अपने अपने काम में योग्य सहयोगी मिल गये। प्रबन्ध में लाला लालचन्द ने जो उच्च आदर्श अपने सामने रखा, वह उनके पीछे आने वालों के लिये पथ प्रदर्शक बना रहा है। कालेज कमेटी का प्रबन्ध ऐसा उज्ज्वल रहा है कि कोई संस्था उस पर गर्व कर सकती है। लाला हंसराज का त्याग अपूर्व था। उन्होने ५० वर्ष तक समाज और कालेज की सेवा की, और एक पैसा उसका दाम नहीं लिया। उन्हें भी अपने साथ कर्म करने वाले, लगन

के युवक मिल गये। लाला लाजपतराय के हृदय में अपूर्व उत्साह था; उन्हें भी सहयोगी प्राप्त हो गये। लाला मुन्शीराम और लाला देवराज की स्थिति भी ऐसी ही रही। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्य समाज पंजाब पर छा गया। सार्वजनिक काम के हर पक्ष में आर्य समाजी प्राय: प्रमुख थे।

अब आर्य्य समाज और उसकी संस्थायें देश में फैली हुई हैं। देहली इस काम का केन्द्र है; वहाँ १०० से अधिक आर्य्य समाज हैं; दो कालेज हैं, दर्जनों स्कूल और पाठशालायें हैं। उत्तर प्रदेश में काम का विस्तार अच्छा है। जो लोग इस काम में लगे हैं, या जिन्हें इसमें अनुराग है, उन्हें एक बात सदा याद रखनी चाहिये, और वह यह है कि किसी यज्ञ की सफलता के लिये आवश्यक है कि कुंड की अग्नि बुझने न पाये, और यज्ञ के कार्य्य के लिये पर्याप्त योग्यता के ब्रह्मा, होता और अध्वर्यु मिलते रहें। हरेक अच्छे काम के लिये नियम होते हैं, परन्तु काम करने वाले तो मनुष्य होते हैं।

मनु स्मृति और धर्म

हमारे धार्मिक साहित्य में श्रुति का स्थान सबसे ऊँचा है । इससे उतर कर स्मृति का स्थान समझा जाता है । वेद के आदेश देश और काल की सीमाओं से ऊपर हैं : वे सार्व भौम और नित्य हैं । स्मृतियां देश और काल की स्थिति को देख कर वनाई जाती हैं । परिवर्तन जीवन का चिन्ह है; स्मृतियों के आदेशों में भेद का होना स्वाभाविक ही है । स्मृतियों में मनुस्मृति वहुत प्रसिद्ध है ।

स्मृति को धर्मशास्त्र भी कहा जाता है । धर्म के अन्तर्गत नीति और राजनीति दोनों आ जाते हैं । इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है । दोनों का लक्ष्य मानव-कल्याण है : नीति बताती है कि इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये व्यक्ति को क्या करना चाहिये; राजनीति बताती है कि इस सम्बन्ध में समुदाय सामूहिक स्थिति में क्या कर सकता है । राजनीति राज्य की नीति है । अन्य स्मृतियों की तरह मनुस्मृति में भी नीति और राजनीति दोनों मिले हुये हैं । दूसरे देशों के साहित्य में भी यही स्थिति है । पीछे दोनों अलग हो जाती हैं, और स्वाधीन धाराओं के रूप में समानान्तर बहने लगती हैं । कुछ लोगों के विचार में नीति राजनीति के विरोध में प्रतिक्रिया का रूप धारण करती है ।

मैं अपने कल्याण के लिये एक मार्ग को उपयोगी समझता हूं; इसी कल्याण के लिये राज्य जो निश्चित करता है, वह मेरे विचार के प्रतिकूल होता है । प्रत्येक राष्ट्र समझता है कि युद्ध होने पर उसका अधिकार है कि वह हरेक योग्य नागरिक को युद्ध में झोंक दे । व्यक्ति ख्याल कर सकता है कि किसी स्थिति में भी उसे अहिंसा का त्याग नहीं करना चाहिये । उसके लिये प्रश्न उठ खड़ा होता है कि वह राजनियम को माने या आत्मा के आदेश को सुने ।

मनुस्मृति के सम्बन्ध में हम नीति और राजनीति दोनों को ध्यान में रखेंगे, और देखेंगे कि इन दोनों क्षेत्रों के सम्बन्ध में यह 'धर्म' की बाबत क्या कहती है ।

नीति

नीति में प्रमुख प्रश्न ये हैं :—

(१) धर्म और अधर्म, शुभ और अशुभ में मौलिक भेद क्या हैं ?
(२) हम इस भेद को कैसे जानते हैं ।
(३) धर्म के प्रमुख आकार प्रकार क्या हैं !

मौलिक भेद

एक विचार के अनुसार व्यक्ति की अपनी पसन्द ही मौलिक भेद है; जो कुछ मुझे किसी विशेष स्थिति में आता है, वह मेरे लिये शुभ है; जो मेरे साथी को आता है, वह उसके लिये शुभ है । इस विचार के अनुसार दो मनुष्यों में शुभ-अशुभ की बाबत मतभेद हो ही नहीं सकता; वे अपनी अपनी चेतना की बाबत कहते हैं, किसी एक वस्तु की बाबत नहीं कहते ।

प्राचीन यूनान में साफिस्ट संमुदाय का यह विचार था । वे सत्य को भी व्यक्ति का इन्द्रिय-दत्त बोध ही समझते थे । सुकरात का सारा यत्न यह बताना था कि सत्य और शुभ दोनो में सामान्य अंश विद्यमान है । जो कुछ मेरे लिये और आज सत्य है, वह सबके लिये और सदा सत्य है; जो मेरे लिये और आज शुभ है, वह सबके लिये और सदा शुभ है । शुभ और अशुभ का भेद वस्तुगत है ।

जब हम भले और बुरे में भेद करते हैं, तो हमारे ध्यान में कर्त्ता, लक्ष्य या कर्म होते हैं । प्राचीन यूनान में लक्ष्य विचार का विषय था; वे अन्तिम लक्ष्य नि:श्रेयस या परम शुभ की बाबत जानना चाहते थे । इस ज्ञान के बाद शुभ और अशुभ कर्मों का भेद कठिन समस्या नहीं रहता; जो कर्म नि:श्रेयस की सिद्धि का साधन है, वह ऐसा साधन होने के कारण ही, अच्छा कर्म है । आधुनिक काल में जर्मनी के दार्शनिक कांट ने कर्तव्य कर्म को महत्व दिया । उसने ऐसे कर्म की जांच के लिये सूत्र प्रस्तुत किये, और कहा कि कर्त्तव्य पालन का फल, जो कुछ भी वह हो, ऐसा फल होने के कारण शुभ होता है । भारती दर्शन में आम विचार यूनानी विचार से मिलता है । मनुस्मृति में दृष्ट कर्म, आचरण, को महत्व दिया है ।

१:१०८ में कहा है—'आचारः परमो धर्मः'

वेद में कहा हैं कि सृष्टि के साथ ही परमात्मा ने ऋत और सत्य को भी निर्मित किया। सत्य वस्तुगत जगत में कारण—कार्य का व्यापक नियम है; प्रत्येक कार्य किसी कारण का फल होता है। कर्मों के सम्बन्ध में ऋत ऐसा नियम है; प्रत्येक कर्म का फल कर्त्ता को भोगना पड़ता है। तथ्य तो यह हैं कि किसी कर्म की पूर्णता होती ही उस समय है, जब उसका फल कर्त्ता के सिर पर आ गिरता है परमात्मा का वज्र पाप के विनाश में, जल्दी नहीं करता, परन्तु यह विलम्ब भी नहीं करता।

मनुस्मृति (४:१७४) में कहा है—

अधर्म का फल कुछ समय के लिये अच्छा दीखता है, परन्तु उचित समय आने पर वह उसी तरह विनष्ट हो जाता है, जिस तरह जड़ कटा वृक्ष नष्ट हो जाता है।'

८:१४ में कहा है—

हनन किया हुआ धर्म हनन करने वाले का नाश कर देता है; रक्षा किया हुआ धर्म रक्षा करता है। इसलिये धर्म का हनन नहीं करना चाहिये, इस भय से कि धर्म हनन करने वाले का नाश कर देगा।' यह इस लोक में धर्म की स्थिति है। परलोक की बाबत स्मृति (८:१६) में कहा है कि मनुष्य जिन वस्तुओं के मोह में जकड़ा रहता है, वे सब जीवन-काल के साथी हैं; मृत्यु के बाद केवल धर्म ही मनुष्य के साथ जाता है। मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है। इसके लिये एक जीवन ही पर्याप्त काल नहीं। वर्तमान जीवन लम्बी यात्रा की एक अल्प मंजिल है। हमारे लिये उचित यही है कि जहां किसी मंजिल को आरम्भ करें, उससे कुछ आगे उसे समाप्त करें। जीवन की कमाई में धर्म ऐसी कमाई है, जो हमारे साथ जायेगी।

'धर्म-प्रधान पुरुष ही, तप की सहायता से, पापों से विमुक्त होकर परलोक में परमात्मा को प्राप्त करता है।' (४:२४३)

धर्म का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ?

जन्म के साथ ही ज्ञान-प्राप्ति का काम आरम्भ हो जाता है, और साधारण मनुष्यों की हालत में जीवन के अन्त तक चलता जाता है। किसी मनुष्य के लिये यह एक रोचक परन्तु कठिन प्रश्न है कि उसने कितना समय सीखने में व्यय

किया है। मनुस्मृति के अनुसार, इस समय को चार भागों में बांटा जा सकता है; आगम काल, स्वाध्याय काल, प्रवचन काल और व्यवहार काल। आगम काल में हम बाहर से उपलब्ध ज्ञान को प्राप्त करते हैं। हमारी आंखें जाग्रत में प्रायः खुली रहती हैं, कान तो बन्द होते ही नही। स्पर्श निरन्तर होता ही है। जो अनुभव इस तरह प्राप्त होता है, वह हमारे ज्ञान का केन्द्र होता है; हम इसे वास्तविकता या सत्य का प्रतीक समझते हैं। आगम में ही वह ज्ञान भी आ जाता है, जो हमें माता-पिता, शिक्षकों और अन्य मनुष्यों से प्राप्त होता है। स्वाध्याय में हमारी वृत्ति केवल ग्रहण करने की नहीं होती; हम विशेष प्रकार के ज्ञान को ढूँढने जाते हैं। कालेज के विद्यार्थी का स्पष्ट सम्पर्क तो ५-७ शिक्षकों से ही होता है, परन्तु कालेज के पुस्तकालय में सहस्रों लेखकों के विचार उसकी पहुंच में होते हैं; वह अपने लिये चुनाव करता है। प्रवचन में हम किसी भले पुरुष के सम्पर्क में आते हैं, वह हमें तथ्यों की ही बाबत नहीं, अपितु नैतिक और धार्मिक नियमों की बाबत भी बताता है। यह नियम इन्द्रिय-दत्त ज्ञान का भाग नहीं होते; यह प्रायः स्वाध्याय और प्रवचन से प्राप्त किये जाते हैं। चौथा काल व्यवहार-काल है। व्यवहार में व्यक्ति ग्रहण ही नहीं करता; आदान-प्रदान में भाग लेता है। धर्म के सम्बन्ध में भी हम इन साधनों का प्रयोग करते हैं। जब मनुष्य को नैतिक समस्याओं की बाबत सोचने का अवसर आता है, तो उसकी बुद्धि का कुछ विकास हो चुकता है। यदि उसने समाज-कल्याण या सर्वहित को परम शुभ स्वीकार किया है, तो उसकी बुद्धि उसे बताती है कि कोई विशेष काम इस कल्याण का पोषक है या घातक है। बुद्धि का परामर्श हरेक को प्राप्य होता है। यदि समस्या जटिल हो, या व्यक्ति को ख्याल हो कि निर्णय करने में वह स्वार्थ को एक ओर नहीं रख सकेगा, और संभव है कि भाव के शोर में बुद्धि की धीमी आवाज सुनाई ही न दे, तो किसी भले पुरुष से सहायता लेनी पड़ती है। यहां ज्ञान और आचरण में भेद हो सकता है। एक मनुष्य को नैतिक और धार्मिक विषयों का अच्छा ज्ञान है, परन्तु उसका आचरण उसके ज्ञान के साथ आगे नहीं बढ़ा; यह त्रुटियों से विमुक्त नहीं। दूसरी ओर शुद्ध आचरण का मनुष्य बुद्धिमत्ता में साधारण स्तर पर भी स्थित हो सकता है। यदि इन दोनो में चुनना हो, तो सदाचार को प्राथमिकता देनी चाहिये। जिस मनुष्य से हम सहायता लेने जायें, उसका कर्म उसके कथन से अधिक महत्व रखता है।

यह सहायता भी पर्याप्त न हो, तो हम धार्मिक साहित्य की ओर फिरते हैं। जैसा हम कह चुके हैं, श्रुति और स्मृति इस साहित्य में प्रमुख हैं। वेद का स्थान सर्वोच्च है। स्मृति जहाँ तक वेदानुकूल है, मान्य है; वेद के प्रतिकूल होने पर यह

अमान्य है । जहां विचाराधीन विषय की बाबत श्रुति कुछ नहीं कहती, वहां स्मृति के कथन को आदर से देखना चाहिये ।

मनुस्मृति (२:१२) में कहा है :—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

वेद, स्मृति, सत् पुरुषों का आचार, और जो अपने आत्मा को प्रिय (ग्रहण करने योग्य) प्रतीत हो, इन चारों तरीकों से धर्म का लक्षण होता है ।

श्रुति और स्मृति में, श्रुति का पद ऊँचा है । स्मृति (२:१३) स्पष्ट शब्दों में कहती है कि 'धर्म की जिज्ञासा करने वालों के लिये श्रुति परम प्रमाण है ।'

श्रुति को स्वतः प्रमाण कहा जाता है; इसके आदेशों की पुष्टि के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । हम वातावरण के पदार्थों को सूर्य के प्रकाश में देखते हैं । स्वयं सूर्य को कैसे देखते हैं ? कोई अन्य पदार्थ सूर्य को नहीं दिखाता, सूर्य आपही अपने आपको दिखाता है ।

सदाचार को हमने किसी भले पुरुष के आचार या आचरण के अर्थ में लिया है; इसे एक दूसरे अर्थ में भी लिया जाता है । जो कुछ भले पुरुषों की प्रशंसा का पात्र है, वह जन साधारण के लिये उपेक्षा का विषय नहीं हो सकता । विचारों की तरह कर्म-विधियों में भी संघर्ष होता है, और इस संघर्ष में जिस विधि को जीतने का अधिकार होता है, वह जीतती है । इस जीत का फल यह होता है कि वह विधि स्थिरता प्राप्त करती है । सदाचार ऐसे स्वीकृत कर्मों का समूह है । कुछ लोगों के विचार में यह समूह ही जन साधारण की नीति है ।

धर्म के आकार प्रकार

धर्म की बाबत ज्ञान-प्राप्त करने के लिये दो प्रमुख साधनों, श्रुति और स्मृति का स्वाध्याय है । यहां हम एक स्मृति का अध्ययन नर रहे हैं । इस स्मृति में एक प्रसिद्ध श्लोक में धर्म के लक्षणों का वर्णन किया गया है ।

धृतिः क्षमादमो ऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

'धृति, क्षमा, मनको काबू में रखना, चोरी न करना, शौच, इन्द्रिय संयम, बुद्धिमत्ता, विद्या, सत्य, अक्रोध—ये १० धर्म के लक्षण हैं । (६:९१)

पहले धर्म—ज्ञान के स्रोतों के लिये 'लक्षण' का प्रयोग हुआ है; यहां धर्म के आकार-प्रकारों के लिये इसका प्रयोग हुआ है। तर्क की परिभाषा में 'लक्षण' किसी प्रत्यय का विश्लेषण है। मनु ने ऐसा विश्लेषण नहीं दिया, अपितु दो संगत प्रश्नों का उत्तर दिया है। धर्म के १० लक्षण उपर्युक्त श्लोक में बयान किये गये हैं। श्लोक की एक निश्चित परिधि होती है, इसके शब्दों का क्रम भी कविता की मांग से निर्धारित होता है। सूची में जो क्रम दिया है, वह किसी नियम के आधार पर नहीं। यदि एक के स्थान में दो श्लोक होते, या श्लोक ही लम्बा होता, तो संभव है, सूची में कुछ और लक्षण भी आ जाते। अब तो जो सूची दी गयी है, उसी पर विचार कर सकते हैं।

पश्चिम में प्लेटो ने सदाचार के ४ मौलिक आकार बयान किये—बुद्धिमत्ता, साहस, संयम और न्याय या साम्य। उसने मानव प्रकृति में तीन अंश देखे—चिन्तन, कर्मण्यता और उत्तेजना। बुद्धिवन्त प्राणी का काम है कि वह अपनी बुद्धि को विकसित करे। कर्मशील प्राणी का काम है कि जो कुछ करे, साहस से करे; जो बाधायें उसके मार्ग में आयें, उन्हें मार्ग से हटाने का पूरा यत्न करे, और जो असुविधा भी सहनी पड़े, उसकी उपेक्षा करे। यह बाधायें कुछ तो बाहर से आती हैं, कुछ अन्दर से। जब कोई दूसरा मुझ पर प्रहार करे, तो अपनी रक्षा में मुझे हर प्रकार के खतरे के लिये उद्यत होना चाहिये। यह पुरुष का पुरुषत्व है। जब कोई मनुष्य गृहस्थ में प्रवेश करता है, तो उसका घर एक प्रकार का किला बन जाता है, और उसकी मान मर्यादा की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। इस रक्षा के लिये जीवन भी जाता हो, तो यह सौदा बुरा नहीं। इस साहस के अतिरिक्त नैतिक साहस होता है; इसमें व्यक्ति दूसरों की प्रशंसा-निन्दा की परवाह न करके अपने नियम पर आरूढ़ रहता है। सभ्य जीवन में जहां व्यक्ति की रक्षा समाज का उत्तरदायित्व बन गया है, साहस प्रमुख रूप में नैतिक साहस बन गया है। गणतंत्र राज्य बहुसंख्या का शासन समझा जाता है। तथ्य यह है कि शासन सदा एक गठित अल्प संख्या का होता है; बहुसंख्या अलग अलग रहने में सुगमता देखती है। विवेक और साहस से निम्न स्थान उत्तेजनों का है। उत्तेजन मानव प्रकृति के अंश हैं; इन्हें उखाड़ कर बाहर फेंक नहीं सकते। यही कर सकते हैं कि इन्हें संयम में रखा जाये। अग्नि की बाबत कहा जाता है कि यह सेवक तो अच्छा है, परन्तु स्वामी बहुत बुरा है। यही उत्तेजनों की स्थिति है। हमारी गति के दो रूप होते हैं; कभी हम आगे से आकर्षित होते हैं, कभी पीछे से ढकेले जाते हैं। पीछे से ढकेला जाना उत्तेजन की शक्ति द्वारा होता है। जब गति की दिशा उत्तेजन के द्वारा निर्मित हो, तो उत्तेजन स्वामी होता है; जब गति की

दिशा बुद्धि से निर्मित हो, और बुद्धि ही निश्चय करे कि उस विशेष स्थिति में कौनसा उत्तेजन काम आ सकता है, तो उत्तेजन सेवक होता है। यही संयम का तत्व है।

प्लेटो ने अपनी सूची में न्याय को किसी विशेष अंश पर स्थित नहीं किया, अपितु इसे साम्य के अर्थ में लिया है। चिन्तन, साहस और संयम को उचित सीमाओं में रहना चाहिये; प्रत्येक को 'जियो और जीने दो' के नियम को अपनाना चाहिये।

भारत में सत्य को बहुत महत्व दिया गया है; प्लेटो ने इसे अपनी सूची में नहीं रखा। संभवत: कारण यह है कि उसका उद्देश्य मौलिक आकारों की सूची देना था, और उसने सत्य को मौलिक सद्गुण नहीं समझा। हम प्राय: असत्य इसलिये कहते हैं कि हमें सत्य का ज्ञान नहीं होता या हमें सत्य कहने का साहस नहीं होता। जो मनुष्य बुद्धिमान हो और साहसी हो, उसके लिये असत्य कहने का अवकाश ही नहीं होता।

मनु की सूची में बुद्धिमत्ता का वर्णन है, परन्तु इसके साथ बुद्धिमत्ता के प्रमुख साधन विद्या को भी जोड़ दिया गया है।

प्लेटो की सूची में दूसरा सद्गुण साहस है। जीवन में आपत्तियां आती ही हैं। इस अवस्था में व्यक्ति के लिये दो मार्ग खुले होते हैं (१) वह अपने आपको मुकाबला के अयोग्य समझ कर घुटने टेक दे, या (२) आपत्ति का डटकर मुकाबला करे। आँधी में घास झुक जाती है और आँधी ऊपर से गुजर जाती है; ऊँचा वृक्ष टूट जाये, पर झुकता नहीं! साहसी मनुष्य खतरों से डरता नहीं। मनु की सूची में साहस का स्पष्ट वर्णन नहीं, परन्तु धृति का जिक्र है, जो साहस से मिलती जुलती है। धैर्यवान पुरुष आरम्भ की असफलताओं से घबराकर इष्ट को छोड़ नहीं देता, वह विश्वास करता है कि अन्त में उसे सफलता प्राप्त होगी, और यदि न भी प्राप्त हो, तो संग्राम में जुटे रहना अपने आप में मूल्यवान है। यही साहस का भी तत्व है।

प्लेटो का तीसरा सद-गुण संयम है। मनु की सूची में इन्द्रियनिग्रह और दम संयम ही हैं। इन्द्रिय-संयम के अभाव में हम खाते-पीते हुये यह नहीं देखते कि क्या हितकर है और क्या अहितकर है। मेदा तो दूर पड़ा होता है, जिह्वा निकट होती है, और वह निश्चय करती है। जो कुछ स्वादिष्ट होता है, उसे हम खाते हैं, और यह भी नहीं देखते कि खाद्य पदार्थ कितनी मात्रा में खाना चाहियें।

जो मनुष्य इन्द्रियों को शासन में रख सकता है, वह जिह्वा के प्रलोभन का मुकाबला करता है। जिस मनुष्य ने मन पर काबू पा लिया है, उसे मुकाबला करने की आवश्यकता ही नहीं होती; दम प्रलोभन से ही विमुक्त कर देता है।

प्लेटो ने न्याय को साम्य के अर्थ में लिया था; वह वैयक्तिक सद्-गुणों का वर्णन कर रहा था। साधारण व्यवहार में न्याय का अर्थ नागरिकों का आपसी सम्बन्ध है, जिसमें व्यक्ति दूसरे के हित को अपने हित में कुर्बान नहीं करता। चोरी करना अन्याय है, क्योंकि चोर दूसरे की कमाई को अपनी कमाई बनाना चाहता है। क्रोध में हम दूसरों की क्षति करना चाहते हैं; यह अन्याय है। अक्रोध से क्षमा एक पग आगे जाती है। अक्रोध दूसरे को हानि पहुँचाने से रोकता है; क्षमा हानि पहुँचाने वाले को भी हानि पहुँचाने से रोकती है। समाज में वस्तुओं और सेवाओं का आदान प्रदान होता है। इससे भी अधिक महत्व की चीज विचारों का आदान-प्रदान है। पशु पक्षी एक साथ रहते हैं, खेलते हैं, परन्तु एक साथ विचार नहीं कर सकते। विचारों के आदान-प्रदान की कीमत इस समझौते पर निर्भर है कि प्रत्येक मनुष्य की जिह्वा पर वही आये, जो उसके मन में है। यह सत्य भाषण है।

इस तरह न्याय के अन्तर्गत मनु की सूची में निम्न लक्षण आते हैं—

सत्य, अस्तेय, अक्रोध, क्षमा।

मनु ने अपनी सूची में शौच को भी रखा है। जो कुछ भी हम करते हैं, किसी प्रयोजन से करते हैं। प्रयोजन कुछ भी हो, क्रिया की सफलता के लिये शरीर का स्वास्थ्य आवश्यक है। स्वास्थ्य के लिये दो बातों की आवश्यकता होती है—

(१) जीवन में प्रतिक्षण जो क्षति होती रहती है, उसे पूरा करने के लिये हम खायें, पियें।

(२) जो कुछ शरीर का अंश नहीं बनता, उसे शरीर के बाहर फेंक दें।

शौच का सम्बन्ध प्रायः दूसरी क्रिया से है। अपान इसमें सहायक होता है। मल-मूत्र, पसीना, श्वास के साथ बेकार माद्दा बाहर निकलता रहता है। शौच इस क्रिया की सचेत सहायता है। एक अँग्रेजी कथन के अनुसार 'शौच आस्तिक भाव से दूसरे दर्जे पर है।

मैंने ऊपर कहा है कि यदि धर्म के लक्षण एक के स्थान में दो श्लोकों में वर्णन होते, तो संभवत: सूची में कुछ और लक्षण भी सम्मिलित हो सकते थे। मुझे इस सूची में कुछ अपूर्णता दिखाई देती है।

धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों से सम्बन्ध रखता है। अभ्युदय लोक की कुशलता प्राप्त करना है; निःश्रेयस परलोक में सद्गति प्राप्त करना है। मनु की सूची लोक से परे नहीं देखती; यह आस्तिकता और नास्तिकता में भेद नहीं करती; या यों कहो कि इसके लिये नीति ही गन्तव्य है। योग दर्शन में 'ईश्वर-प्रणिधान' को पांचवां नियम बताया गया है। जहां तक लौकिक कल्याण का प्रश्न है, मनु की सूची में व्यक्ति और समाज को ध्यान में रखा गया है, परन्तु एक महत्वपूर्ण संस्था, जो इन दोनों को मिलाती है, ध्यान में नहीं रही। यह संस्था परिवार है। कुछ समाजशास्त्री तो कहते हैं कि समाज में एकाई व्यक्ति नहीं, परिवार है। परिवार एक छोटा सा समूह होता है, परन्तु इसमें व्यक्ति को विविध सम्बन्धों में विचरना होता है; एक ही मनुष्य पुत्र, भाई, पति, पिता, स्वामी बनता है। परिवार को नैतिक सद्गुणों का गहवारा कहा गया है। परिवार में एक पुरुष और एक स्त्री द्वैत भाव को खोकर एक बन जाते हैं; मौलिक सम्बन्ध में पति सर्वथा पत्नी का ही हो जाता है, और पत्नी सर्वथा पति की ही हो जाती है। ब्रह्मचर्य पारिवारिक जीवन की जान हैं। योग दर्शन में ब्रह्मचर्य को यमों में स्थान दिया गया है।

सामाजिक जीवन में न्याय का स्थान बहुत ऊँचा है। प्रत्येक मनुष्य के कुछ अधिकार होते हैं। यदि कोई दूसरा उनपर प्रहार करे, तो सारा समाज प्रहार का विरोध करता है। सभ्य समाज में अपराध व्यक्ति पर नहीं, समाज पर प्रहार समझा जाता है। शासन मुझे कहता है—'दूसरे को हानि न पहुंचाओ।' यह इससे आगे नहीं जाता। यदि कोई मनुष्य कठिनाई में हो, और मैं क्षमता रखने पर भी उसकी सहायता न करूँ, तो यह शासन की दृष्टि में अपराध नहीं। धर्म राजनीतिं से आगे जाता है; यह परोपकार को भी मेरा नैतिक दायित्व बताता है। परोपकार के दो रूप विशेष महत्व रखते हैं—दान और यज्ञ। दान देने वाला किसी विशेष मनुष्य की सामयिक कठिनाई को दूर करता है; यज्ञ के अन्तर्गत ऐसे सब काम आते हैं जिनका लाभ अनेक मनुष्यों को पहुंचता है, और देर तक पहुंचता रहता है। मनु की सूची में समाज सेवा या सार्वजनिक कल्याण को ध्यान में नहीं रखा गया। सभ्य समाज में तो, 'व्यक्ति को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।'

राजनीति

राजनीति का विचार-विषय राष्ट्र है। राष्ट्र में चार आवश्यक अंश समझे जाते हैं :—

१. जन-संख्या
२. भूमि
३. स्वाधीनता
४. शासन, कर्मचारी वर्ग

१. प्रत्येक राष्ट्र में ऐसे लोगों की पर्याप्त संख्या होती है, जो स्थाई रूप से उसमें रहते हैं, जो अपने आपको उसका अंग समझते हैं, और जिन्हें ऐसा अंग स्वीकार किया जाता है। जो बालक भारती माता-पिता की सन्तान के रूप में भारत में पैदा होता है, वह भारती है।

२. भूमि का निश्चित विस्तार राष्ट्र की भूमि होती है। इस पर किसी अन्य का अधिकार नहीं होता।

३. प्रत्येक राष्ट्र अपनी भूमि पर, पूर्ण रूप में अधिकार रखता है। बहुत थोड़ी हालतों में कोई इलाका समझौते के फलस्वरूप एक से अधिक शासनों के अधीन होता है; साधारण स्थिति में प्रत्येक राष्ट्र स्वाधीन होता है।

१९४७ में भारत स्वाधीन हुआ। उससे पहले यह एक देश था, राष्ट्र न था।

४. राष्ट्र का काम होता है कि—

(१) वह अपने इलाके में व्यवस्था बनाये रखे।

(२) जनता को ऐसी सुविधायें दे कि वे प्रगति के मार्ग पर बढ़ती जायें।

(३) जहां तक बन पड़े, वह मानव जाति की प्रगति में अपना योग दान दे। प्रत्येक राष्ट्र मानव-जाति का अंग होता है।

इन कर्त्तव्यों में प्रथम स्थान व्यवस्था का है। कभी कभी यह व्यवस्था बाहर से भंग होती है, परन्तु वर्तमान स्थिति में राष्ट्र का प्रमुख काम आन्तरिक व्यवस्था बनाये रखना होता है। बहुसंख्या तो समझती है कि व्यवस्था बने रहने पर ही वे अपना काम कर सकते हैं, परन्तु समाज में कुछ समाज-विरोधी अंश भी होते हैं। राष्ट्र यह स्पष्ट कर देता है कि किस प्रकार के कर्म राष्ट्र विरोधी हैं। इनसे

निपटने के लिये यह भी घोषित किया जाता है कि अपराधी को उचित दंड दिया जायेगा। जिस राष्ट्र में शक्तिशाली शासन-विभाग नहीं, जो केवल उपदेश को पर्याप्त समझता है, वह राष्ट्र कहलाने का अधिकार नहीं रखता। साधारण नागरिक के लिये यह बात अधिक महत्व की नहीं कि उसके देश का परिमाण कितना है, या उसकी जन-संख्या क्या है। उसके लिये महत्व की बात यह है कि वह अपना काम स्वाधीनता से, बिना बाहरी रोक के, कर सके। इसके लिये आवश्यक है कि देश में सबल दंड-नीति का शासन हो।

मनु स्मृति में इस तथ्य को समझा गया है। ७-१९ में कहा है :—

'दंड ही शासन करता है, वही प्रजा का रक्षक है। नागरिक सोये होते हैं, तो भी दंड जागता है। बुद्धिमान दंड को ही धर्म कहते हैं।'

थोड़े शब्दों में यहां कई मर्मपूर्ण बातें कह दी गई हैं। यदि एक शब्द में राज्य-धर्म का लक्षण करना हो, तो कह सकते हैं कि दंड यह धर्म है।

आजकल सभी सभ्य देशों में माना जाता है कि वास्तव में शासन राज-नियम का है, कर्मचारी तो इस नियम के एजेंट होते हैं। राज-नियम ही लोगों की रक्षा करता है। राज-नियम का केन्द्र दंड-व्यवस्था है। हमारी शारीरिक स्थिति ऐसी है कि जीवन का अच्छा भाग नींद में गुजरता है। हम रात को सोते हैं, पुलिस कर्मचारी सड़कों पर घूमता है। वह भी सो जाये, तो राज-नियम तो सदा जागता है। यह बोध कि दंड-नियम कभी सोता नहीं, व्यवस्था बनाये रखने में बहुत सहायक होता है।

कुशल जीवन के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति के पास उचित निर्वाह के लिये सामग्री हो। राष्ट्र को भी अपना काम चलाने के लिये पर्याप्त सामग्री की आवश्यकता होती है। यह साधन कहां से आते हैं? रक्षा और अन्य सेवायें जो राष्ट्र नागरिकों को देता है, उनकी कीमत नागरिकों को देनी होती है। यह कीमत करों के रूप में प्राप्त की जाती है। अच्छा नागरिक करों को प्रसन्नता से देता है। वह समझता है कि जो कुछ वह देता है, वह किसी नये रूप में उसके पास लौट आयेगा। परन्तु बहुतेरे लोग यह भी चाहते हैं कि जहां तक हो सके, वे इस बोझ से बचे रहें। शासन इस स्थिति में क्या कर सकता है? शासन के लिये सभी नागरिक एक जैसे हैं, हरेक को अपना ऋण चुकाना ही चाहिये। यहां भी दंड काम आता है।

मनु स्मृति (७/९९) में कहा है कि शासन-दंड से अप्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा करे। शासन की आय का बड़ा भाग करों के रूप में प्राप्त होता है; इसके अतिरिक्त आय के अन्य साधन भी होते हैं। भूमि के नीचे जो धातुयें दबी होती हैं, वे राष्ट्र की सम्पत्ति समझी जाती हैं; देश के वन राष्ट्र की सम्पत्ति होते हैं। इसके अतिरिक्त देश में बहुतेरी भूमि भी राष्ट्र की ही होती है। आधुनिक काल में राष्ट्र व्यापार और उद्योग में भी पड़ते हैं। करों की प्राप्ति में दंड का प्रयोग करना पड़ता है; अन्य साधनों के प्रयोग में दंड की आवश्यकता नहीं होती। स्मृति में श्लोक के शेष भाग में कहा है :—

'नित्य देखने से प्राप्त की रक्षा करे; उत्पादक उपयोग से रक्षित की वृद्धि करे; और बढ़ी हुई सम्पत्ति को दान (लोक हित) में खर्च करे।' मनु ०·७-१०१

मुझे इस श्लोक में राष्ट्र की आर्थिक योजना का एक सुन्दर विवरण दिखाई देता है। शासन के पास बड़ी मात्रा में धन आता है। वह कहां जाता है? किसी प्रकार के प्रयोग के पहले ही वह कई जेबों में जा पहुंचता है। शासन की ओर से थोड़ी असावधानी भी हुई, और कुछ कर्मचारियों ने इस धन को अपना बना लिया। आजकल भ्रष्टाचार की चर्चा हर कहीं होती है। शासन के कर्मचारी जनसाधारण और राष्ट्र में भेद नहीं करते; जहां से, राज नियम की पकड़ से बचते हुये, कुछ मिल जाये, अच्छा ही है। शासकों को सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिये आंखें खुली रखनी चाहिये; नित्य देखते रहना चाहिये।

जो कुछ रक्षित हुआ है, और जिसे काम चलाने के लिये तुरन्त व्यय करना आवश्यक नहीं, उसे बढ़ाना चाहिये। जो योजनायें बनाई जायें, उनमें यह ध्यान रखा जाये कि यदि एक रुपया बोया जायगा, तो सवा सोलह आने से कम काटा नहीं जायेगा। ऐसे उपयोग के वाद जो कुछ कोष में हो, उसे व्यय करना चाहिये। श्लोक में 'दान' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके अन्तर्गत सर्व कल्याण के सारे काम आ जाते हैं। गणतन्त्र राज्य केवल जीवन और सम्पत्ति को रक्षा ही प्रदान नहीं करता; यह कल्याण राष्ट्र बनने की चेष्टा भी करता है। जो लोग किसी कारण से जीवन संग्राम के अयोग्य हैं, उनकी सहायता करना समाज का काम हैं।

स्मृति के श्लोक को मैंने राज-धर्म के नीचे लिया है। आरम्भ में कहा है कि दंड के प्रयोग से अप्राप्त को प्राप्त करे। दंड का प्रयोग शासन ही कर सकता

है। तनिक भेद के साथ यह श्लोक व्यक्ति की आर्थिक कुशलता के लिये बहुत अच्छा परामर्श देता है :—

'अप्राप्त के प्राप्त करने की इच्छा करे,

नित्य देखने से प्राप्त की रक्षा करे,

रक्षित की वृद्धि करे,

बढ़ी हुई सम्पत्ति को सर्वहित के कामों में व्यय करे।

महाभारत और धर्म

भारत के काव्यों में, एक पुस्तक की स्थिति में, महाभारत शायद सबसे बड़ा काव्य है। इसे पढ़ते हुये, हम अनेक मनुष्यों से परिचित होते हैं। इनमें न कहने वालों की कमी है, न सुनने वालों की। जिन विषयों पर वे कहते सुनते हैं वह भी असीम से दीखते हैं। यह स्वाभाविक ही है कि धर्म पर भी इसमें पर्याप्त कहा गया हो। चूंकि कहने वाला एक नहीं, हम यह आशा नहीं कर सकते कि इसमें अविरोध नीति-विवेचन मिले, जैसा हम किसी दार्शनिक की पुस्तक से आशा कर सकते हैं। वक्ता दार्शनिक नहीं, बहुधा धर्म-उपदेशक हैं। यदि वे अतिथि सेवा या दान की प्रशंसा में कहेंगे, तो यह कहने की आवश्यकता नहीं समझेंगे कि यह कर्म क्यों शुभ है। वे प्राय: इस धारणा के साथ आरंभ करेंगे कि ये शुभ हैं। अनेक वक्ताओं के कथनों को एक साथ पढ़ने का एक लाभ यह है कि हम विषय का अध्ययन इसके विविध पक्षों में कर सकते हैं। कहा जाता है कि मृत्यु की तरह, धर्म के लिये भी सभी मनुष्य एक स्तर पर हैं; बड़े छोटे का यहां कोई भेद नहीं, सभी बुद्धिवन्त प्राणी एक समान नैतिक नियम से बँधे हैं। परन्तु मनुष्यों की योग्यता एक नहीं होती, न उन्हें एक ही स्थिति में काम करना होता है। नीति तीव्र रूप में मनुष्यों में भेद भी करती है। नर और नारी में भेद है, समाज में वर्ण-भेद है, व्यक्ति के जीवन में आश्रम भेद है। शास्त्र या नीति पर लिखने वाले मुझे क्या बता सकते हैं कि मैं विशेष स्थिति में क्या करूं? वे तो जानते ही नहीं कि मैं क्या हूं, और किस स्थिति में मुझे काम करना है। जो कुछ वे कहेंगे, वह सामान्य धर्म की बाबत होगा, या किसी श्रेणी के धर्म की बाबत। महाभारत में कहा है कि शास्त्रों के उपदेश उपलब्ध होने पर भी, व्यक्ति को अपने अनुभव और अनुमान का सहारा लेना होता हैं।

धर्म का स्वरूप

हम अपने आपको अगणित पदार्थों से घिरा पाते हैं; हम आप भी उनमें हैं। वे देश के विविध भागों में स्थित हैं; देश के जिस भाग को एक पदार्थ ने अपना

बना लिया है, उसमें कोई दूसरा पदार्थ घुस नहीं सकता। इस तरह हम पदार्थों को एक दूसरे से अलग करते हैं। पदार्थों में गुण भेद भी होता है; उनके गुणों को जान कर ही हम उनका उचित प्रयोग कर सकते हैं। गुणों के अतिरिक्त क्रिया भी व्यापक दीखती है। प्राकृतिक वस्तुओं में प्रमुख क्रिया गति या स्थान-परिवर्तन है। इसका फल विविध पदार्थों की आपस की क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होता है। इनमें धर्म का स्थान कहां है? यह पदार्थ है, आचार का गुण है, या विशेष प्रकार का कर्म (आचरण) है?

मनुष्यों की कल्पना गुणों को भी साकार रूप दे देती है; इससे साधारण मनुष्यों को भी अमूर्त गुणों का कुछ बोध हो जाता है। चित्रकार क्रोध, भय, प्रतीक्षा, सद्भाव के मनोरंजक चित्र प्रस्तुत करते हैं। धर्म की हालत में भी कल्पना ने ऐसा किया है।

धर्म मानव के रूप में

मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य पूर्णता की प्राप्ति है। इसके लिये अनेक जन्मों के प्रयत्न की आवश्यकता होती है। लक्ष्य की प्राप्ति पर प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती, और मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है। 'धर्म' को एक देवता माना गया है, परन्तु महाभारत के अनुसार इसे भी जन्म लेना पड़ा। यह ऋषि माण्डव्य के शाप का फल था। वेदव्यास ने धृतराष्ट्र को कहा कि मानव जन्म में धर्म ने विदुर का शरीर धारण किया। उसने दक्ष की १० कन्याओं से विवाह किया। इन कन्याओं के नाम ये थे—

कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा और मति। धर्म के तीन पुत्र थे—शम, काम और हर्ष।

इस विवरण से हम क्या समझ सकते हैं?

धर्म को एक शाप के फलस्वरूप जन्म लेना पड़ा, परन्तु वह जन्म साधारण मनुष्य का जन्म तो नहीं हो सकता था। पति पत्नी पर अधिकार रखता है। दक्ष की कन्याओं के नाम बताते हैं कि धर्म-मूर्ति मनुष्य की सम्पत्ति क्या होती है। किसी मनुष्य के स्व में तीन पक्ष प्रमुख होते हैं—

(१) प्राकृतिक स्व

इसमें उसका शरीर ही नहीं आता, अपितु वह सम्पत्ति भी जिसे वह अपना अंश ही समझने लगता है। इस सम्पत्ति में वह भाग विशेष महत्व रखता है, जिसे उसने अपने श्रम से कमाया है।

(२) सामाजिक स्व

मनुष्य समाज में रहते हैं। हरेक व्यवहार में दूसरों की बाबत कुछ राय कायम करता है। वह यह भी जानता है कि दूसरे भी उसकी बाबत अपनी राय कायम करते हैं। अपनी सम्मति की बाबत तो वह प्रायः यही समझता है कि वह युक्तियुक्त और ठीक है; उसकी बाबत दूसरे जो सम्मतियां बनाते हैं, वह उसके लिये चिन्ता का विषय होती हैं। हम स्वस्थ और धनी होना चाहते हैं, परन्तु इससे भी अधिक यह चाहते हैं कि दूसरे हमें स्वस्थ और धनी समझें। एक प्रचलित कथन के अनुसार, 'कीर्ति' महापुरुषों की अन्तिम त्रुटि है।'

(३) आत्मिक स्व

इसमें तीन पक्ष हैं—ज्ञान, कर्म, और भाव।

अब देखें कि स्व के इन तीनों पक्षों में 'धर्म' की स्थिति क्या थी।

सम्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह 'लक्ष्मी का पति' था। कहा जाता है कि व्यापार में दयानतदारी सर्वोत्तम कर्म-विधि है। महाभारत में भी कहा है कि लक्ष्मी धर्म के अनुकूल आचरण करने से प्राप्त होती है। यदि अधर्म भी उसे खींच ले, तो वह अपने आपको अनुचित वातावरण में पाकर वहां से चल देती है।

सामाजिक स्व में धार्मिक पुरुष कीर्ति प्राप्त करता है; 'धर्म' 'कीर्ति'-पति है। भारत में तो 'महात्मा' ही सबसे अधिक सम्मान का पात्र समझा जाता है।

अब स्व के केन्द्र, आत्मिक स्व, को लें।

ज्ञान के सम्बन्ध में मेधा, बुद्धि और मति का वर्णन किया गया है।

ज्ञान के तीन स्तर होते हैं। निम्न स्तर का ज्ञान विशेष वस्तु या स्थिति का ज्ञान होता है। मैं एक गौ को देखता हूं, या उसके शब्द को सुनता हूं। मेरे पास बैठा हुआ पुरुष भी उसे देखता और उसके शब्द को सुनता है। हमारे लिये यह कहना सम्भव नहीं कि दोनों देखने सुनने वाले जो कुछ देखते सुनते हैं, वह एक रूप होता है। दोनों के प्रभाव उनके अन्दर बन्द हैं, और बाहर एक साथ रखे नहीं जा सकते। प्लेटो ने ऐसे ज्ञान को व्यक्ति की सम्मति का पद दिया है। उसके विचार में, गणित ऐसे ज्ञान से ऊँचे स्तर का ज्ञान देता है। रेखा-गणित में हम किसी विशेष त्रिकोण की बाबत चिन्तन करते हैं, परन्तु उसकी विशेषतायें हमारे चिन्तन

से असंगत होती हैं। बुद्धि बताती है कि जो कुछ एक त्रिकोण की बाबत देखा है, वह अन्य त्रिकोणों की बाबत भी मान्य है। गणित विशेष और सामान्य का मेल होता है। तत्व-ज्ञान में प्लेटो के अनुसार, विशेष की उपेक्षा की जाती है, और सामान्य ही चिन्तन का विषय होता है। इस स्तर पर चिन्तन-शक्ति बुद्धि से भी ऊपर उठती है।

धर्म की पत्नियों की सूची में, मति, बुद्धि और मेधा का जिक्र है; धर्म इन तीनों का पति है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत का वर्णन प्लेटो के वर्णन से मिलता-जुलता है। धार्मिक पुरुष को ज्ञान होता है; वह इन्द्रियों की सहायता से विशेष वस्तुओं और स्थितियों को उनके यथार्थ रूप में देखता है; वह दृष्ट जगत की बाबत अनुमान कर सकता है; और अपनी उड़ान से दृष्ट-जगत से परे भी जा सकता है।

चेतना का दूसरा पक्ष क्रिया है। क्रिया निरी गति नहीं। निद्रा में रक्त मेरे शरीर की नाड़ियों में घूमता रहता है; प्राण और अपान रुकते नहीं, परन्तु इनमें कोई मेरी क्रिया नहीं। भौतिक क्रिया किसी विचार को साकार रूप देना है। मानसिक क्रिया में अंशों का संयोग-वियोग होता है। जीवन भर ये काम होते रहते हैं, और कुछ लोगों के विचार में जीवन का मूल्य इसी बात से जानना चाहिये कि कितनी क्रिया उसमें एकत्रित की गयी है। विकासवादी स्पेन्सर ने कहा था कि जीवन का उद्देश्य स्वयं जीवन है—लम्बाई में और चौड़ाई में। लम्बाई तो इसी से पता लग जाती है कि मनुष्य कितनी देर जीता है, चौड़ाई का पता क्रियाओं की विविधता से लगता है। यजुर्वेद में कहा हैं कि मनुष्य को १०० वर्ष तक काम करते हुये, जीने की इच्छा करनी चाहिये। ऐसा कर सकने के लिये दो बातों की आवश्यकता होती है—

(१) मनुष्य में यह सब कुछ करने की शक्ति या क्षमता हो।

(२) इस शक्ति के साथ मिली हुई संकल्प की दृढ़ता हो कि आलस्य और प्रमाद से बचकर शक्ति का पूरा प्रयोग करना है।

'धर्म' 'क्रिया', 'पुष्टि' और 'धृति' का भी पति है।

भाव के सम्बन्ध में हम धार्मिक जीवन से क्या आशा कर सकते हैं। अपनी क्रिया में प्रत्येक मनुष्य किसी उद्देश्य को अपने सामने रखता है। बहुतेरे उद्देश्य साधन-मात्र होते हैं। सर्वोत्कृष्ट साध्य नि:श्रेयस कहलाता है। मनुष्य अपने लिये

अपने उद्देश्यों को चुनते हैं, हरेक अपनी भावना के अनुसार। भगवद् गीता में ठीक कहा है—'श्रद्धामयोहि पुरुषः'—मनुष्य श्रद्धा का रूप ही है। यह स्थिति का भावात्मक पक्ष है। धार्मिक पुरुष में आत्म सम्मान पर्याप्त मात्रा में विद्यमान होता है। वह उसे ऐसी दिशा में जाने ही नहीं देता, जो उसकी स्थिति के प्रतिकूल है। एक दार्शनिक ने कहा है—"कोई मनुष्य मुझसे पूछता है–'तुम स्वच्छ क्यों रहना चाहते हो ?' मैं उत्तर देता हूं—क्यों कि मेरी आंखें हैं'। वह पूछता है—'यदि तुम अन्धकार में हो, तो ?' मैं उत्तर देता हूं—'क्यों कि मेरी नासिका है।' यदि वह फिर पूछे कि जुकाम होने पर भी मैं अन्धेरे में क्यों स्वच्छ रहना चाहता हूं, तो मैं नहीं जानता कि ऐसी भावना के मनुष्य को क्या उत्तर दूँ। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां में यह अस्थूल भावना अधिक वलिष्ठ होती है। यह उन्हें जीवन के गड्ढों से सुरक्षित पार ले जाती है। इसे 'लज्जा' कहते हैं।

भाव के पक्ष में, 'धर्म' श्रद्धा और लज्जा का 'पति' था।

'धर्म' को एक शाप के कारण मानव जन्म धारण करना पड़ा। इसमें गृहस्थ बनना उसका अपना निश्चय था। वह जिन १० कन्याओं (गुणों) का 'पति' वना, वे एक सुखी, सफल और कुशल जीवन का भूषण हैं। सूची को फिर पढ़िये और देखिये कि यह कैसी सावधानी से तैयार की गयी है।

धर्मदेव ने गृहस्थ बनने का निश्चय किया। किस लिये ? और जिस उद्देश्य से किया, वह प्राप्त भी हुआ या नहीं ?

गृहस्थ एक पुरुष और एक स्त्री का संयोग हैं। विवाह के बाद दोनों एक बन जाते हैं। इस एकता को सन्तान और दृढ़ बना देती है। पशु-पक्षियों में जब लैंगिक समागम होता है, तो यह साध्य के रूप में होता है, साधन के रूप में नहीं। वे शरीर में प्रस्तुत हुये खिचाव को दूर करना चाहते हैं। इससे परे वे नहीं देखते, न देख सकते हैं। प्रकृति उनकी नसल को जारी रखने के लिये उन्हें साधन के रूप में बर्तती हैं। मनुष्य में भी बहुतेरे इसी स्तर पर होते हैं; परन्तु वे लैंगिक समागम को सन्तान—उत्पत्ति के साथ युक्त कर सकते हैं, और फिर समागम उनके लिये साध्य नहीं रहता, साधन बन ज़ाता है। स्त्री में सन्तान-कामना पुरुष की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है; लिंग उसके जीवन में प्रमुख अंश होता है।

विवाह से पहले, पुरुष के लिये किसी स्त्री को पत्नी बना सकने की संभावना है; विवाह होने पर वह पूर्ण रूप में एक स्त्री का ही हो जाता है। उसे अपना

लैंगिक जीवन अतिसंकुचित क्षेत्र में बन्द रखना होता है; ऐसी ही आशा उसकी पत्नी से की जाती है। ऐसे संयम को 'शम' कह सकते हैं; जीवन का साम्य इससे प्राप्त होता है। गृहस्थ की नींव शरीर की मौलिक मांग पर है, यह मांग काम-वासना को पूरा करने की है। बहुतेरे लोग काम-वासना पूरा करने को पतन समझते है; कुछ तो इस कामना को ही नहीं, अन्य कामनाओं को भी निन्दनीथ बताते हैं। यह भूल है। जब कोई मनुष्य गृहस्थ में प्रविष्ट होता है, तो वह काम-वासना कीं पूर्ति से भाग नहीं सकता, हां, यह आवश्यक है कि अपनी पत्नी को छोड़ कर किसी स्त्री पर इस कामना से युक्त दृष्टि न डाले, और इस संकुचित क्षेत्र में भी शम के अधीन विचरण करे। ऐसे व्यवहार से घर में सुख शान्ति व्यक्त होती है। क्षणिक तृप्ति के पीछे भी हम सब भागते हैं, परन्तु इससे अधिक मूल्य की वस्तु स्थायी तुष्टि है। इसे 'हर्ष' कह सकते हैं।

ऊपर हमने पूछा था कि धर्मदेव को गृहस्थ में प्रविष्ट होने से क्या मिला। महाभारत में कहा है कि उसे तीन 'पुत्र' प्राप्त हुये—शम, काम और हर्ष। धर्मदेव के लिये भी यह गृहस्थ का मीठा फल था; साधारण मनुष्यों के लिये तो होना ही चाहिये ।

यहां तक हमने गृहस्थ-कर्म को संकुचित अर्थों में लेकर उसके फल की बाबत विचार किया है। गृहस्थ को असंकुचित अर्थ में लें, तो प्रश्न होता है कि गृहस्थ जीवन की कमाई अन्तिम रूप में क्या है। यह प्रश्न हमें एक दार्शनिक विवाद में ढकेल देता है। मनुष्य की चेतना में तीन पक्ष हैं—कर्म, ज्ञान और भाव। ज्ञान और भाव तो व्यक्ति के अन्दर बन्द रहते हैं; कर्म उसे दूसरों के स्पष्ट सम्पर्क में ले आता है। कर्म करते हुये व्यक्ति को ज्ञान और भाव में किससे प्रेरणा लेनी चाहिये? विवेकवादी कहते हैं कि मनुष्य में कामनायें तो पशु-पक्षियों की सी ही हैं, बुद्धि उसका विशेष गुण है। जितना वह बुद्धि को उज्ज्वल करेगा, जितना अपनी क्रिया को बुद्धि के शासन में रखेगा, उतना ही मनुष्यत्व उसमें बढ़ेगा। कामनायें हमारे स्व का अंश हैं, हम इन्हें उखाड़ कर बाहर फेंक नहीं सकते, परन्तु यह तो कर सकते हैं कि यह हमारी दास रहें, स्वामी न बन जायें। ऐसी स्थिति को ही शम कहते हैं। भोगवादी कहते हैं कि जीवन-क्रिया का लक्ष्य भाव निश्चित करता है, बुद्धि का काम तो इतना ही है कि वह काम-तृप्ति के लिये उचित साधनों की बाबत बता दे। आधुनिक काल में, कांट ने शम को और जान स्टूअर्ट मिल ने कामना तृप्ति को अन्तिम लक्ष्य बताया। अरस्तू एक तीसरे विचार का समर्थक था।

उसके विचार में क्रिया का सर्वोत्तम फल काम-तृप्ति नहीं (यह तृप्ति तो क्षणिक होती है) और न कामना से घृणा करना है। अन्तिम लक्ष्य स्थायी तुष्टि या सुख है। इसे 'हर्ष' कहते हैं। गृहस्थ को उदार अर्थों में ले, तो 'महाभारत' के अनुसार धर्म-देव को तीन पुत्र प्राप्त हुये। तीनों सुख और शान्ति को देने वाले हैं; दार्शनिक अपने संकुचित दृष्टिकोण के कारण इनमें किसी एक का मूल्य ही देखते हैं।

धर्मदेव ने मानव आकार में पर्याप्त समय गृहस्थ में गुजारा। आवश्यकता पड़ने पर वह अन्य रूप भी ग्रहण कर लेता था। युधिष्ठिर को धर्म-पुत्र का नाम दिया जाता है; स्वयं 'धर्म' ने भी उसे ऐसा ही कहा। उसे यह जानने की स्वाभाविक इच्छा थी कि युधिष्ठिर की स्थिति कैसी है। महाभारत में युधिष्ठिर की तीन परीक्षाओं का जिक्र है, जो स्वयं धर्म ने लीं।

पहला अवसर वह था, जब युधिष्ठिर ने एक तालाब के किनारे अपने चारों भाइयों को अचेत देखा। वह पानी पीना चाहता था; उसे यक्ष की आवाज सुनाई दी कि उसके भाई तो जल पीने के कारण अपना जीवन खो बैठे हैं, उसे यह नहीं करना चाहिये। यदि पानी पीना ही है, तो पहले उसके कुछ प्रश्नों का उत्तर दे लो। युधिष्ठिर ने उसे स्वीकार किया। जो प्रश्न यक्ष ने पूछे वे सामान्य सूझ-बूझ और ज्ञान की जांच थे। प्रश्न-उत्तर के अन्त में यक्ष ने प्रसन्न होकर युधिष्ठिर से कहा कि अपने भाइयों में जिस एक को वह चाहे, वह फिर जीवित कर देगा, युधिष्ठिर ने नकुल का नाम लिया। यक्ष ने पूछा—तुम अपने सगे भाई अर्जुन को छोड़ कर सौतेले भाई नकुल को क्यों जिलाना चाहते हो? युधिष्ठिर ने कहा—'लोग मुझे धर्मात्मा कहते हैं; धर्म की माँग यही है। मैं चाहता हूं कि कुन्ती और माद्री दोनों पुत्रवती बनी रहें।' यक्ष ने कहा कि वह धर्म था, जो युधिष्ठिर की परीक्षा करना चाहता था। युधिष्ठिर परीक्षा में पूरा उतरा; उसके चारों भाई फिर जीवित हो गये। (वनपर्वः ३१३)

दूसरी परीक्षा उस समय हुई, जब उसे स्वर्ग का अधिकारी समझ कर, रथ लेकर इन्द्र उसके पास पहुंचा। युधिष्ठिर का स्वामि-भक्त कुत्ता उसके साथ था। उसने कुत्ते की ओर देखा और चाहा कि वह भी रथ में बैठ जाये। उसे कहा गया कि स्वर्ग में कुत्ते के लिये तो स्थान नहीं। युधिष्ठिर ने कहा—'शरणागत की सहायता न करना, स्त्री की हत्या करना, ब्राह्मण का धन हरना और मित्र से द्रोह करना—ये चार महा पाप हैं। मेरी समझ में, भक्त का त्याग भी इसी प्रकार का पाप है।'

धर्म ने कुत्ते का रूप त्याग कर, उसे कहा—तुमने यह समझ कर कि कुत्ता तुम्हारा भक्त है, तुम्हारे साथ आया है, इन्द्र के लाये रथ पर चढ़ना भी अस्वीकार कर दिया है । इसमें मैं बहुत प्रसन्न हूं; तुमको दिव्यगति प्राप्त हो गयी ।' (महाप्रस्थानिकपर्व: ३)

युधिष्ठिर की तीसरी परीक्षा स्वर्ग में पहुंचने पर हुई । वहाँ उसने द्रौपदी और अपने भाइयों को नहीं देखा । उसे बताया गया कि वे तो एक दूसरे स्थान पर हैं । युधिष्ठिर ने उन्हें देखने की इच्छा प्रकट की तो एक देवदूत को उसके साथ कर दिया गया जो उसे उनसे मिला दे । अति गन्दे और भयानक मार्ग पर कुछ देर चलकर वह ऐसे स्थान पर पहुंचा, जहाँ हर ओर से चीखों के अतिरिक्त और कुछ सुनाई न देता था । चीखने वाले द्रौपदी, युधिष्ठिर के भाई और उसके साथी थे युधिष्ठिर ने देवदूत से कहा—'तुम लौट जाओ' । मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये, मैं द्रौपदी और भाइयों के साथ नरक में ही रहूंगा ।' देवदूत ने वापस जाकर उसका संदेश इन्द्र को सुना दिया । इन्द्र, धर्म और कुछ और देवता उसके पास पहुंचे, और उसे कहा—तुम्हें पूर्ण रूप में शोधने के लिये इतना ही पर्याप्त था कि तुम नरक को देखलो, तुम्हारे सम्बन्धियों और साथियों के पूर्ण-शोधन के लिये, उनका थोड़े समय के लिये यहाँ ठहरना आवश्यक था । अब तुम सब स्वर्ग में चलो ।'

धर्मदेव ने कहा—'बेटा ! तुम्हारी धर्म-परायणता को देख कर मैं बहुत प्रसन्न हूं । यह तीसरी परीक्षा है जो मैंने तुम्हारी ली है । इस बार भी मैं तुमको तुम्हारे स्वभाव से विचलित नहीं कर सका । (स्वर्गारोहणपर्व: १,२)

हम पहाड़ पर चढ़ते धीरे-धीरे हैं; थोड़ा चल कर विश्राम के लिये बैठ भी जाते हैं । किनारे से पाँव फ़िसल पड़ें, तो खड़ की तह तक पहुंचने के लिये कोई यत्न करना नहीं पड़ता: पृथिवी की आकर्षण-शक्ति यह सब कुछ हमारे लिये कर देती है; हाँ, यह हो सकता है कि नीचे गिरने में हमारी हड्डी पसलियाँ टूट जायें । नैतिक उन्नति और पतन में भी स्थिति ऐसी ही होती है । देखना यह होता है कि विशेष स्थिति में व्यक्ति स्व से कितना ऊँचा उठ सकता है । युधिष्ठिर की परीक्षाओं में प्रश्न यही था । पहली परीक्षा में उसने पारिवारिक सुख को धर्म के लिये कुरबान कर दिया; अपने सगे भाई के स्थान पर सौतेले भाई को जिलाना चाहा, ताकि दोनों रानियां पुत्रवती बनी रहें । दूसरी परीक्षा में लौकिक सुख को हीं नहीं स्वर्ग के सुख को भी अस्वीकार कर दिया, क्योंकि स्वर्ग जाने में भक्त कुत्ते का साथ छोड़ना पड़ता था । तीसरी परीक्षा में वह एक और लम्बा पग बढ़ा, और स्वर्ग के स्थान में नरक में रहने के लिये तैयार हो गया, क्योंकि वहाँ उसे द्रौपदी और

भाइयों के साथ रहने का अवसर मिल सकता था। स्वयं धर्म ने भी माना कि वह अपनी परीक्षाओं में पूरा उतरा है। स्व से ऊपर उठने के अपूर्व उदाहरण उसने प्रस्तुत किये।

अभी तक हम धर्मदेव से परिचित हुये हैं। धर्मदेव एक चेतन व्यक्ति है। जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, वह प्रायः कविता की भाषा है। अब हम धर्म को उसके प्रचलित नैतिक अर्थों में देखेंगे।

हमारे निर्णय दो प्रकार के होते हैं—घटना-सम्बन्धी और मूल्य-सम्बन्धी। मैं कहता हूं 'एक बालक १० मिनट तक अपनी माता को मारता रहा' : यह एक घटना का वर्णन है। मैं फिर कहता हूं—'उस बालक ने बुरा काम किया'। यह कर्म के मूल्य पर निर्णय है। मूल्य का निर्णय किसी मापक की सहायता से होता है। कर्मों को शुभ-अशुभ कहने के लिये हम धर्म को मापक के रूप में बर्तते हैं। जो काम धर्मानुकूल है, वह शुभ है; जो धर्म के प्रतिकूल है, वह अशुभ है। 'महाभारत' के अनेक स्थलों में शुभ और अशुभ कर्मों की बाबत कहा है। यहां हम सीमित उद्धरण ही दे सकेंगे। जब हम भिन्न प्रकार के कर्मों की जांच करना चाहते हैं, तो उन्हें भिन्न स्तरों पर रखते हैं; कोई लक्ष्य के अधिक निकट होता है, कोई कम निकट। इस प्रकार का विवाद सत्य और अहिंसा के सम्बन्ध में होता है। कुछ लोग कहते हैं—'सत्य से परे कोई धर्म नहीं'; कुछ और कहते हैं—अहिंसा परम धर्म है। सामाजिक जीवन का आधार विचारों के आदान-प्रदान पर निर्भर है। जो कुछ मन में है, वही वाणी बोले : यह सत्य है। इसके बिना सामाजिक व्यवहार चल नहीं सकता। सामाजिक जीवन व्यक्ति के कल्याण का मुख्य साधन है। हरेक मनुष्य का अधिकार है कि वह सुरक्षित जीवन बिता सके; कोई दूसरा उसे हानि न पहुंचाये। सारा समाज उसे ऐसी हानि से बचा रहने में सहायता देता है। यह अहिंसा या न्याय की मांग है। जो लोग सत्य को महत्व देते हैं, वे समाज के अस्तित्व को प्रमुख रखते हैं; जो अहिंसा या न्याय को महत्व देते हैं, वे व्यक्ति के जीवन-अधिकार को प्रमुख रखते हैं। कर्णपर्व में कृष्ण ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं।

सत्य और अहिंसा

कृष्ण ने अर्जुन से कहा—

'धर्म और अधर्म के तत्व का निर्णय करने के लिये अनेक लक्षण शास्त्र में बताये गये हैं, परन्तु कहीं कहीं बुद्धि और अनुमान के द्वारा भी सूक्ष्म धर्म का निर्णय करना पड़ता है।......शास्त्र में प्रायः सब कुछ बता दिया गया है, परन्तु

बहुत सी धर्म की विशेष बातें और अवस्थायें ऐसी हैं कि वैसा प्रसंग न आने पर शास्त्र में उनका निर्णय नहीं किया गया। ऐसी अवस्थाजों में अवश्य ही अनुमान से काम लेना चाहिये।

मैं उसी को धर्म मानता हूं। जो अहिंसा का प्रतिपादक हो। जो लोग किसी का धन छीनना चाहें, उन्हें उसका पता न बतलाया जावे; यही निश्चित धर्म है। चुप रहने से काम चल जाये, तो अच्छा है; न चले, तो झूठ बोलना ही भला है; वहां पर मिथ्या ही सत्य है। प्रांण संकट, विवाह, सारी जाति के हित और दिल्लगी में झूठ बोलना दूषित नहीं। प्रांण संकट में झूठ बोलना किसी निर्दोष पुरुष की जान बचाना हैं; कचहरी में झूठी गवाही देना शामिल नहीं। एक कथन के अनुसार 'प्रेम और युद्ध में कुछ भी अनुचित नहीं।' विवाह तो दीर्घकाल के प्रेम का आरम्भ है। कृष्ण ने इस सम्बन्ध में असत्य को क्षमा-योग्य कहा है। जाति के अहित कों रोकने के लिये, राजनीति के भक्त झूठ कहने में बुराई नहीं समझते। हंसी-दिल्लगी की स्थिति भिन्न है। झूठ बोलने वाला अपने हित में दूसरों के अहित को बुरा नहीं समझता : दिल्लगी में हित-अहित का प्रश्न ही नहीं उठता, न भविष्य की ओर संकेत होता है। वहां तो वर्तमान को हंसी खुशी में गुजारना एकमात्र उद्देश्य होता है; और इसमें सभी एक समान भाग लेते हैं।

धर्म के आठ मार्ग

शौनक एक ब्राह्मण विद्वान था; सांख्य और योग में निपुण था। उसने युधिष्ठिर को शारीरिक औप मानसिक दुखों की बाबत बताकर, धर्म के आठ मार्गों या आकारों की बाबत कहा।

उसने कहा—

शारीरिक दुख के तीन कारण हैं : व्याधि या रोग, अधिक श्रम, अनिष्ट का आना और इष्ट का चला जाना। व्याधि उचित प्रतिकार के द्वारा दूर हो सकती है, उसकी पीड़ा विचार के द्वारा दूर होती है। मानसिक दुखों की उत्पत्ति अधिकांशत: स्नेह से होती है। स्नेह केवल दुख का ही कारण नहीं, वह डर, शोक, हर्ष का भी कारण है; स्नेह के कारण मनुष्य को अधिक श्रम भी करना पड़ता है। विषयासक्ति, थोड़ी भी हो, तो धर्म और अर्थ की प्रवृत्तियों को जला देती है।

अभिमान छोड़ कर निम्नांकित धर्मों का आचरण करना चाहिये :—

तप, जप, सत्य, इन्द्रिय दमन, क्षमा, दान, अध्ययन और संतोष।

ये आठ धर्म के मार्ग हैं। इनमें तप, जप, दान और अध्ययन पितृलोक की प्राप्ति के साधन हैं। सत्य, इन्द्रियदमन, क्षमा और सन्तोष देवलोक में जाने के उपाय हैं। हरेक मनुष्य को चाहिये कि शुद्ध चित्त के साथ इन आठ प्रकार के धर्मों का पालन करता रहे। (वनपर्व: २)

शौनक ने पितृलोक और देवलोक की स्थिति में भेद किया है। साधारण विचार भी देवलोक को ऊँचे स्तर पर रखता है। शौनक ने अपने आठ भागों में यह भेद किस आधार पर किया है ?

नैतिक विवेचन में हम आचरण और आचार में भेद करते हैं। आचरण एक दृष्ट वस्तु है, जिसे कार्य करने वाले के अतिरिक्त दूसरे भी देख सकते हैं। एक व्यापारी रविवार के दिन भूखों को खाना खिलाता है; उन्हें कुछ पैसे भी देता है। यह उसका आचरण है; हरेक इसे देख सकता है। वह ऐसा करता क्यों है ? क्रिया के प्रेरक को कोई दूसरा स्पष्ट रूप में देख नहीं सकता। शायद पूर्ण रूप में स्वयं उसे भी इसका ज्ञान नहीं। उसका प्रेरक नीचे लिखों में से कोई हो सकता है :—

(१) उसे दान के महत्व में विश्वास है; वह सार्वजनिक सेवा से परे नहीं देखता।

(२) वह विश्वास करता है कि दान का फल इस लोक में या परलोक में उसे मिल जायेगा; वह अपना रुपया यों ही फेंक नहीं रहा।

(३) वह चाहता है कि नगर में उसकी साख बन जाये, और उचित समय पर अन्य व्यापारियों से या बैंकों से उधार लेकर नगर से चलता बने।

किसी मनुष्य के नैतिक स्तर की बाबत निर्णय करते हुये. हम उसके आचरण की अपेक्षा उसके आचार को अधिक महत्व देते हैं। आरम्भ में आदेश होता है—'ऐसा करो', पीछे आदेश होता है—'ऐसा बनो'।

ऐसा प्रतीत होता है कि शौनक के ध्यान में भी इसी प्रकार का भेद था। पितृलोक को ले जाने वाले साधन तप, जप, दान और अध्ययन—आचरण के आकार हैं; सत्य, इन्द्रियदमन, क्षमा और संतोष आचार के पक्ष हैं। तप शरीर और मन की दृढ़ता का आधार है। मिट्टी में जल मिलाकर उससे ईंट बनाई जाती है। सूर्य की गर्मी में वह सूखती है, और दीवारों में लग सकती है। परन्तु वायु और जल उसे कुछ समय के बाद बेकार कर देते हैं। सूर्य की गर्मी में सूखना पर्याप्त तप न था। जब वह अच्छे काल के लिये भट्टी में जलती है, तो पक्की ईंट बनती है। तप को बीमा कम्पनी के चन्दा से उपमा दी जाती है। जब तक आपत्ति नहीं आती

चन्दा देने की उपयोगिता दिखाई नहीं देती; आपत्ति आने पर स्थिति भिन्न रूप में दिखने लगती है। यही तपस्या की बावत कह सकते हैं।

जप ईश्वर का नाम लेना है। साधारण मनुष्य के लिये यह उपासना का सहज तरीका है। तप और जप विशेष कर उन लोगों के लिये हैं, जो गृहस्थ के धन्धों से विमुक्त हो चुके हैं, या हो रहे हैं। दान देना गृहस्थों का धर्म है। वे जो कुछ कमाते हैं, उसमें समाज का और अन्य नागरिकों का पर्याप्त योगदान होता है। दान इस ऋण को कुछ चुका देता है।

अध्ययन या स्वाध्याय सबके लिये कर्त्तव्य कर्म है। सत्य, इन्द्रियदमन, क्षमा और सन्तोष आचार के लक्षण हैं। इन्द्रियदमन व्यक्ति के जीवन में साम्य पैदा करता है। घोड़े पर एक मनुष्य बैठा है। जब तक घोड़ा उसके काबू में है, वह घोड़े पर सवार है; जब घोड़ा नियन्त्रण में न रहे, तो घोड़ा वास्तव में सवार होता है। इन्द्रियां वश में न हों, तो वे दास नहीं रहतीं, मालिक हो जाती हैं। जिस जगत में हम रहते हैं, उसमें अनेक अन्य मनुष्य भी रहते हैं। अपने निर्वाह के लिये हरेक को काम करना होता है; जो कुछ वह कमाता है, वही उसका है। उसे अपने दावों को सीमा में रखना चाहिये। यह सन्तोष है। सत्य सामाजिक जीवन का आधार है; क्षमा अहिंसा से एक पग आगे जाती है।

मनु ने धर्म के जो दस लक्षण दिये हैं, उनमें भी क्षमा, दम, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, विद्या (अध्ययन) शामिल हैं। योगदर्शन के नियमों और यमों में सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान (जप), अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य शामिल हैं। धर्म के कुछ लक्षण सामान्य स्वीकृति प्राप्त कर चुके थे; वे एक तरह से आध्यात्मिक वातावरण का अंश बन गये थे।

स्वर्ग और नरक की प्राप्ति

साधारण विचार के अनुसार, धर्म का अनुसरण स्वर्ग का अधिकारी बनाता है, अधर्म नरक का भागी बनाता है। पार्वती ने महादेव से पूछा—मनुष्य किस प्रकार के स्वभाव, सदाचार, कर्म और दान से स्वर्गलोक का अधिकारी बनता हैं? पार्वती ने अपने प्रश्न में कर्म के साथ स्वभाव और शिष्टाचार को भी शामिल कर दिया है। शिष्टाचार में ऐसा व्यापार आता है, जो सामाजिक व्यवहार में मूल्यवान समझा जाता है, परन्तु उसे धर्म का पद नहीं दिया जाता। जब कोई मनुष्य मुझे मिलने आता है, तो शिष्टाचार की मांग यह है कि मैं उठ कर उसे मिलूँ, उसे कुर्सी पर बिठाऊँ और अपनी बातचीत में मधुरता और अतिथि-सम्मान को ध्यान में

रखूँ। परन्तु ऐसा न करना अधर्म नहीं; यह मुझे नरक का भागी नहीं बनाता। कड़वा स्वभाव मुझे यहां ही पर्याप्त दंड दे देता है। महादेव ने जो उत्तर पार्वती को दिया, उसमें इस भेद को ध्यान में रखना चाहिये।

महादेव ने कहा—

'जो मनुष्य ब्राह्मणों का सम्मान करता है, और दीन मनुष्यों पर दया करके अन्न-वस्त्र आदि देता है, जो कुआं बावली आदि बनवाता है, वह मरने के बाद देवलोक में चिरकाल तक हर प्रकार के भोग भोग कर फिर संसार में धनवान के घर जन्म पाता है। .... ब्रह्मा जी ने दानी लोगों का ऐसा ही सौभाग्य बतलाया है।

'धन रखते हुये भी दान न देने वाले मरने के बाद नरक को जाते हैं, और वहां अनेक कष्ट भोग कर किसी निर्धन मनुष्य के घर में जन्म पाते हैं।'

महादेव ने दान से आरम्भ किया है, और दान के तीन प्रमुख रूपों का जिक्र किया है—

विद्वान ब्राह्मण को दान देना चाहिये, जो अपना समय अध्ययन और अध्यापन में व्यतीत करता है। दोनों में ब्रह्मदान (विद्यादान) को सबसे उत्तम दान बताया हैं। ब्राह्मण ऐसा दान करता है; उसे दान देने वाला भी ब्रह्म दान में भागी बनता है। किसी दूसरे की सबसे बड़ी सहायता यह है कि उसे अपनी सहायता करने के योग्य बनाया जाये। शिक्षा इसका अपूर्व साधन है। विद्या प्रचार का दावा लोगों के दान पर प्रथम दावा है।

दूसरे दर्जे पर वह लोग हैं, जो किसी कारण से अपनी सहायता करने के अयोग्य हैं। उनकी सामयिक आवश्यकता पूरी करनी चाहिये।

यह दो दान किसी व्यक्ति को दिये जाते हैं। तीसरे प्रकार का दान सार्वजनिक उपकार के रूप में होता है; इसमें ब्राह्मण और अब्राह्मण, निर्धन और धनी का भेद नहीं किया जाता। यह साझे वातावरण को बेहतर बनाता है, और उस वातावरण में सभी श्वास लेते हैं।

जो मनुष्य दान करता है, वह यह बताता है कि उसमें धन के उचित व्यय की क्षमता है। उसे स्वर्ग के भोगों के बाद किसी धनी के घर में जन्म मिलता है; उसके अपने सुख के लिये ही नहीं, अपितु इसलिये भी कि वह फिर दान और उपकार में धन का व्यय कर सके। दान न देने वाला नरक के क्लेशों को भोग कर निर्धन घर में जन्म लेता है; आप दुखी रहता है, और दूसरों को सहायता देने की क्षमता से भी वंचित रहता है।

शिष्टाचार

'जो मनुष्य धन के गर्व में सम्मान-योग्य मनुष्यों का सम्मान नहीं करता, मार्ग देने योग्य लोगों को मार्ग नहीं देता, मान्य पुरुषों और वृद्धों का अपमान करता है, वह अवश्य नरक में जाता है। जब चिरकाल तक नरक के दुख भोग चुकता है तो वह संसार में चंडाल आदि नीच जातियों में जन्म लेता है। जो मनुष्य विनीत होकर सबसे मिलता हैं, जो सबका उचित सत्कार करता है, जो मार्ग देने योग्य मनुष्यों को मार्ग देता है, गुरुओं का उचित सम्मान करता है, अतिथि सत्कार करता है, वह स्वर्ग में जाता है। वहाँ चिरकाल तक भोग भोग कर किसी श्रेष्ठ कुल में जन्म लेता है।

अत्याचार

'जो मनुष्य दूसरों को भयभीत करता है, जो हाथ-पांव, रस्सी, लाठी आदि से उन्हें मारता है, जो दूसरों पर आक्रमण करता है, वह अवश्य नरक को जाता है। यदि वह फिर मनुष्य जन्म पाता है, तो किसी नीच कुल में पैदा होकर अनेक विपत्तियां सहता है, और सबका शत्रु होता है।'

दान न करने वाला और अशिष्ट आचरण करने वाला दोनों ही फिर मनुष्य जन्म पाते हैं, पर कुछ रोकों के साथ। अत्याचारी पुरुष के सम्बन्ध में यह भी संदिग्ध है। यदि उसे मनुष्य जन्म मिल भी जाये, तो नीच कुल में मिलता है, और उसका स्वभाव उसे सबका शत्रु बना देता है। मित्र-भाव जो जीवन को मधुर बनाने में इतना भाग लेता है, उसके स्वभाव का अंश ही नहीं होता।

हितकर स्वभाव और परोपकार

'जो मनुष्य जितेन्द्रिय, वैरविहीन, दयावान है और सबको मित्र भाव से देखता है, जो सबका विश्वास-पात्र होता है (किसी से विश्वासघात नहीं करता), वह स्वर्गलोक में जाता है; वहां देवों की तरह रहता हैं। जब मनुष्यलोक में फिर आता है, तो सुखी जीवन व्यतीत करता है; किसी विपत्ति में फंसता नहीं।' यह अच्छे स्वभाव की प्रशंसा है। (अनुशासन पर्व: १४५)

भगवद्गीता और धर्म

भगवद्गीता महाभारत का एक अंश है। महाभारत में लिखा है कि व्यास ने क्षत्रियों के यश और कीर्ति के प्रसार के लिये इस महाकाव्य की रचना की। भगवद्गीता में युद्ध का कोई वर्णन नहीं; केवल उस सम्वाद का वर्णन है, जो युद्ध के लिये तैयार खड़ी हुई सेनाओं के मध्य में स्थित कृष्ण और अर्जुन में हुआ। यह बात मर्म पूर्ण है कि गीता में प्रथम शब्द 'धर्मक्षेत्र' है; इसे कुरुक्षेत्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। पांडव और कौरव एक ही वंश के निकट सम्बन्धी थे। उनमें जिस विवाद ने घोर संग्राम का रूप धारण किया, उसका तात्विक रूप क्या था ?

भगवद्गीता में काम, क्रोध और लोभ को नरक के तीन द्वार कहा गया है। इन तीनों का युद्ध से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। योरोप के पुराने महाकाव्य 'काम' के गिर्द घूमते हैं। कोई सुन्दर कन्या या युवती हर ली जाती है, और उसे वापस लाने के लिये घोर युद्ध होने लगता है। आजकल काम का स्थान क्रोध ने ले लिया है। किन्हीं कारणों से, दो बलवान जातियों के नेता एक दूसरे से रुष्ट हो जाते हैं ? उनका क्रोध जातियों को अपनी लपेट में ले लेता है और युद्ध की तैयारी होने लगती है। अभी एशिया और अफ्रीका के कई देश विदेशी शासन से मुक्त हुये हैं। इनकी दासता के नीचे आक्रमण-कारियों का लोभ था; वे चाहते थे कि 'असभ्य' जातियों की सम्पत्ति को छीन लें और उन्हें 'सभ्य' बना दें। भगवद्गीता का लेखक आरम्भ में ही हमें बता देता है कि जो युद्ध कुरुक्षेत्र में होने वाला है, वह काम, क्रोध या लोभ का परिणाम न था; यह धर्म-युद्ध था, और कुरुक्षेत्र 'धर्मक्षेत्र' था। ऐसी स्थिति में हम आशा कर सकते हैं कि हमें धर्म के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

भगवद्‌गीता में १८ अध्याय हैं। ये तीन भागों में बांटे जा सकते हैं। पहले ६ अध्यायों में नीति प्रधान है। अनेक पक्षों को सामने रखकर, कृष्ण अर्जुन को यह समझाना चाहता है कि अन्य सब विचारों को एक ओर रखकर हर हालत में कर्त्तव्य-पालन करना चाहिये। इस भाग में दूसरा अध्याय विशेष महत्व का है। मध्य के अध्यायों में अद्वैतवाद का समर्थन है। इतना भेद स्पष्ट है कि नवीन वेदान्त जो स्थान ब्रह्म को देता है, उसे कृष्ण अपना पद बताता है। इन अध्यायों में 'मैं' और 'मेरा' ही हर कहीं दीखते हैं। अन्तिम ६ अध्यायों में सांख्य सिद्धान्त प्रधान हैं। कुछ विचारक कहते हैं कि गीता आरम्भ में वेदान्त का ग्रन्थ थी; पीछे इसे सर्वप्रिय बनाने के लिये, इसमें सांख्य सिद्धान्त भी मिला दिया गया। इसके विपरीत कुछ विचारक मूल-रूप में इसे सांख्य का ग्रन्थ समझते हैं, मध्य के अध्यायों को पीछे की मिलावट बताते हैं। एक तीसरे विचार के अनुसार, लेखक ने दोनों विचारों का समन्वय करने का यत्न किया, परन्तु वह इसमें सफल नहीं हुआ; दोनों धारायें भिन्न रूप में साथ बहती जाती हैं, दोनों मिल कर एक धारा नहीं बनती।

अब देखें कि इन तीनों भागों में 'धर्म' की बाबत क्या कहा गया है।

पहले अध्याय में अर्जुन कहता है :—

कुल के नाश होने से, सनातन 'कुलधर्म' का नाश हो जाता है। धर्म का नाश होने से सम्पूर्ण कुल को अधर्म भी दबा लेता है। पाप के बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां दूषित हो जाती हैं; स्त्रियों के दूषित होने पर वर्ण-संकर सन्तान पैदा होती हैं।

इन वर्णसंकर पैदा करने वाले कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं; जिन मनुष्यों का कुलधर्म नष्ट हो गया है, उन्हें अनियत काल तक नरक में रहना पड़ता है। ऐसा सुना है। (१,४०,४१,४३,४४)

अर्जुन को दिखाई देता था कि युद्ध का परिणाम कुछ भी हो, बहुत से योधा मर जायेंगे, और अपने पीछे बहुत सी विधवायें छोड़ जायेंगे। इन विधवाओं के लिये संयम में रहना कठिन होगा। कुल के विनाश से वर्णसंकर पैदा होंगे, और सुना जाता है कि ऐसे कुलों के मनुष्यों को अनियत काल के लिये नरक में रहना पड़ता है।

धर्म के अन्तर्गत प्राय: सदाचार और सदाचरण समझे जाते हैं। ऊपर के श्लोकों में धर्म को आचरण तक सीमित रखा गया है, और बताया गया है कि

युद्ध का परिणाम नीति के क्षेत्र में क्या होता है। अर्जुन के ध्यान में कुलधर्म प्रमुख है। इनमें न धर्म के तत्व की बावत और न उसके आकारों की बाबत ही हमें कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। अब आगे चलें।

अर्जुन ने कृष्ण से कहा :—

'कायरता से दूषित, धर्म के विषय में मोहित-चित्त, मैं तुमसे पूछता हूं कि मेरे लिये श्रेय कर्म क्या हैं। मैं तुम्हारा शिष्य हूं, मुझे शिक्षा दो।' (२:७)

कृष्ण ने कहा :—

अपने धर्म को देखते हुये भी, तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये, क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा श्रेय (कर्त्तव्य) नहीं है। और यदि तू इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करेगा, तो अपने धर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा। (२:३१-३३)

कृष्ण 'कुलधर्म' से आगे बढ़ता है। वह अर्जुन से कहता है कि क्षत्रिय होने के नाते धर्मयुद्ध ही उसके लिये परम-श्रेय है। इसी के साथ उसकी कीर्ति भी युक्त है।

एक पग और बढ़ कर, कृष्ण नैतिक कर्म के व्यापक रूप की ओर फिरता है। वह कहता है :—

'निष्काम कर्म करने में न अकर्म का दोष है, न पीछे हटना है। थोड़ी मात्रा में भी किये गये निष्काम कर्म और धर्म से मनुष्य महान भय से मुक्त हो जाता है।' (२ : ४०)

अर्जुन ने कहा था कि वह भयभीत और मोहित-चित्त था। न वह स्थिति में शुभ और अशुभ को देख सकता था, और न उसमें युद्ध में कूद पड़ने की हिम्मत थी। जब हम किसी जटिल स्थिति में फंस जाते हैं, तो कभी तो हम अकर्म का सहारा लेते हैं, कभी आरम्भ करते हैं, परन्तु अन्त तक नहीं जाते। कृष्ण ने कहा कि निष्काम कर्म इन दोनों दोषों से विमुक्त है; इसमें यह नहीं होता कि हम कर्म-क्षेत्र में न कूदें, न यह ही होता है कि जो कुछ आरम्भ किया है, उसे बीच में छोड़ दें। भयभीत और मोहित-चित्त होने का प्रमुख कारण यह होता है कि हम तटस्थ दृष्टिकोण को नहीं अपनाते, अपितु अपने हित को अधिक महत्व देते हैं। निष्काम कर्म में हमारा दृष्टिकोण वस्तुगत होता है; हमारे विचार में सभी मनुष्य समान होते हैं।
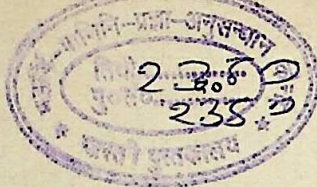
स्वधर्म

तीसरे अध्याय में कृष्ण एक और नैतिक प्रश्न की ओर संकेत करता है। वह कहता है :—

व्यक्ति का अपना धर्म किसी त्रुटि के होने पर भी, दूसरे के धर्म से जिसे भली प्रकार किया जाये, श्रेष्ठ है। जीवन भर अपना कर्म करते रहना उत्तम है। दूसरे का धर्म तो भय देने वाला हैं।' (३ : ३५)

शुभ कर्म सद्भाव से किया हुआ कर्म है। यह अच्छा पथ-प्रदर्शक नियम है, परन्तु जीवन में हरेक को विशेष स्थिति में काम करना होता है। जीवन के पहले भाग में व्यक्ति अपने लिये कोई कार्य-क्षेत्र ढूंढता है। जब यह कार्यक्षेत्र निश्चित हो जाता है, तो एक तरह से उसका जीवन-ढांचा निर्णीत हो जाता है। प्रत्येक के स्थान की स्थिति उसके लिये आचरण नियत करती है। उसे अपने काम में लगा रहना चाहिये, चाहे उसके करने में पूर्णता प्राप्त न हो सके। किसी दूसरे का काम त्रुटि के बिना भी कर सके, तो भी उसे करना योग्य नहीं; क्योंकि वह दूसरे का काम है। शिक्षा के क्षेत्र में आजकल यही प्रमुख समस्या है। विद्यार्थी का काम विद्या प्राप्त करना है; उसे अच्छे पढ़े लिखे शिक्षकों के निकट सम्बन्ध में आने का अवसर मिलता है; अच्छे पुस्तकालयों के प्रयोग की सुविधा होती है; अपने खर्च के लिये आप कमाना नहीं पड़ता; यह उसके माता पिता या शासन का उत्तरदायित्व होता है। विद्यार्थी शान्त वातावरण में अपना समय अध्ययन में व्यय कर सकता है। परन्तु एक या दूसरे कारण से, कुछ विद्यार्थी इस काम में बहुत सफल नहीं होते। वह दूकानों पर या कारखानों के बाहर धरना देने में अधिक कुशल होते हैं। पथराव करना और सम्पत्ति को क्षति पहुंचाना तो और भी आसान है। परिणाम यह है कि विद्यालय विद्या-मन्दिरों के स्थान में अशान्ति के गढ़ बन रहे हैं। कई अध्यापक भी अध्यापन को गौण बना देते हैं, और राजनीति में अधिक अनुराग लेते हैं। कृष्ण का यह सुझाव कि प्रत्येक को अपना काम करना चाहिये, दूसरों के काम में कूदना नहीं चाहिये, बहुत महत्व का सुझाव है।

आधुनिक विचारकों में ब्रैडले ने भी साधारण मनुष्य के लिये यही सूत्र दिया है—'अपने पद के काम को करते जाओ।'

नेतृत्व का स्थान

जीवन गति है; परन्तु यह सब मनुष्यों के लिये एक रूप की गति नहीं। कुछ कोल्हू के बैल की तरह एक संकुचित चक्कर काटने में जीवन व्यतीत कर देते हैं,
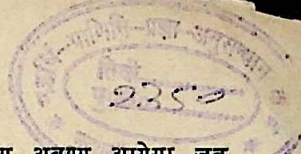
विकास के साथ सर्वार्थ का बल बढ़ता जाता है। वह समय अवश्य आयेगा जब दूसरों का हित व्यक्ति की प्रकृति ही बन जायगा। ऐसी स्थिति आने पर हर प्रकार के अभद्र का अभाव हो जायेगा। मानव जाति का भविष्य उज्ज्वल है।

जर्मनी के दार्शनिक हेगल के विचार में वास्तविकता और बुद्धि-अनुकूलता एक ही वस्तु है। मनुष्य के उद्वेग संग्राम में जुटे रहते हैं; अन्त में वे बुद्धि की प्रधानता को स्थापित करते हैं। यह प्रधानता व्यक्ति की स्वाधीनता है। इतिहास इस दिशा में निरन्तर प्रगति है। इस सम्बन्ध में कृष्ण का मत क्या है ?

धर्म और अधर्म में संग्राम होता रहता है। धर्म की शक्ति अधर्म की शक्ति से कम है। इसका परिणाम यह होता है कि धर्म गढ़े में जा गिरता है, और अधर्म शिखर पर जा पहुँचता है। जब स्थिति इतनी बिगड़ जाती है, तो कृष्ण दिव्यलोक से कुछ काल के लिये पृथिवी पर आता है, और फिर धर्म की प्राथमिकता को स्थापित करता है। उसके जाने पर फिर वही कथा दुहराई जाती है; धर्म पराजित होता है और अधर्म की बिजय होती है। फिर कृष्ण आता है और यह क्रम जारी रहता है।

यह एक अभद्रवादी दृष्टिकोण है। धर्म और अधर्म के संग्राम में धर्म की अपनी शक्ति तुच्छ है। यह अपनी रक्षा नहीं कर सकता, किसी और की रक्षा क्या करेगा ?

धर्म अधर्म के युद्ध में साधारण मनुष्यों का भाग

धर्म और अधर्म का युद्ध कुरुक्षेत्र और अन्य क्षेत्रों में होता है; प्रत्येक हृदय भी इस युद्ध का क्षेत्र है। दैवी और आसुरी वृत्तियां विजयी होने का यत्न करती रहती हैं। बाहर का युद्ध अन्दर के युद्ध का projection प्रतिरूप ही होता है। प्रत्येक बुद्धिमान को देखना होता है कि वह धर्म की वृद्धि और अधर्म की ग्लानि में क्या योग दे सकता है।

प्रगतिशील देशों में समझा जाता है कि प्रत्येक समस्या से निपटना उनका काम है। भारत में बहुतेरे आत्मनिर्भरता के अभाव में कृष्ण के अवतरण की प्रतीक्षा करते हैं। यह भावना कि हमसे कुछ बन नहीं पड़ता, हीनता के भाव को पैदा करती है। अन्य देशों के लोग अपने उत्तरदायित्व को ऐसी [illegible] सा[illegible] से एक ओर नहीं रख सकते।

कृष्ण की सफलता

महाभारत का युद्ध कुरुक्षेत्र में हुआ। मैंने वह स्थान देखा जिसकी बाबत कहा जाता है कि वहां कृष्ण और अर्जुन का सम्वाद हुआ। उस स्थान के दोनों ओर दोनों सेनायें खड़ी होंगी। योधा रथों पर बैठते थे और तीरों से लड़ते थे। युद्ध क्षेत्र भारत के एक भाग में था; विदेशों से इसे कोई सम्बन्ध न था। जिस पक्ष को कृष्ण का सहयोग प्राप्त था, उसको जीत हुई। यह धर्म की विजय थी; परन्तु व्यापक रूप में कृष्ण के काम का फल क्या था ? उसकी मृत्यु के साथ ही कलियुग का आरम्भ हुआ, और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, स्थिति बिगड़ती गयी।

धर्म के सम्बन्ध में, गीता के प्रथम भाग में निम्न बातों पर बल दिया गया है :—

(१) मनुष्य जो कुछ करता है, किसी प्रेरक की प्रेरणा पर करता है। बुद्धि इन प्रेरकों को गुण-भेद की दृष्टि से क्रम में रखती है। शिखर पर कर्त्तव्य पालन का स्थान है। प्रत्येक स्थिति में देखना चाहिये कि धर्म की मांग क्या है। इस मांग का अधिकार अन्य मांगों के अधिकार से अधिक है।

(२) कर्त्तव्य पालन में भाव नहीं, अपितु बुद्धि पथप्रदर्शन करती है। बुद्धि सभी मनुष्यों को एक स्तर पर रखती है। काम करने वाले का हित उतना ही महत्व रखता है, जितना किसी और का हित रखता है। धर्म की मांग है कि व्यक्ति निष्काम भाव से कर्म करे।

(३) प्रत्येक मनुष्य अपनी शिक्षा-दीक्षा, योग्यता, पसन्द आदि के आधार पर सामाजिक जीवन में विशेष स्थान पर स्थित होता है। उसे अपने काम में लगा रहना चाहिये। यदि हरेक अपने काम में लगा रहे, तो सामूहिक कल्याण भी हो जायेगा।

(४) प्रत्येक नसल का प्रमुख काम आने वाली नसल को अपने दायित्व का बोझ उठाने के योग्य बनाना है। जो लोग समाज में अगुआ हैं, उनका विशेष उत्तरदायित्व है। जिधर से महाजन गुजरते हैं, वही मार्ग बन जाता है।' माता-पिता अध्यापक और विविध क्षेत्रों के नेता उठती हुई नसल को ढांचे में ढालते हैं।

अब गीता के मध्य भाग की ओर चलें।

गीता के ७वें अध्याय में ३० श्लोक हैं, और हरेक श्लोक में कृष्ण अपनी बाबत कहता है। वह जल में रस, चन्द्र और सूर्य में प्रकाश, आकाश में शब्द,

पृथिवी में गन्ध और अग्नि में तेज है। वह सभी भूतों का जीवन है और तपस्वियों का तप है। सृष्ट जगत में जड़ पदार्थ हैं, जीवित वस्तुयें हैं और चेतन जीव है। कृष्ण अपने आपको इन सबका तत्व कहता है। दर्शनों में 'धर्म' को तत्व या मौलिक गुण के अर्थ में भी लिया गया है; शब्द आकाश का धर्म है, रस जल का धर्म है। कृष्ण के कथन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जड़ जगत में जो मौलिक भेद पृथिवी, अग्नि, आकाश आदि को एक दूसरे से भिन्न करते हैं, उनका आधार कृष्ण ही है। जिस अर्थ में हम 'धर्म' पर विचार कर रहे हैं, उसमें हमें कुछ प्राप्त नहीं होता।

९:२ में कृष्ण ऐसे ज्ञान की ओर संकेत करता है, जो राजविद्या और राजरहस्य है, जो पवित्र, उत्तम और धर्मयुक्त है। यह ज्ञान कृष्ण भक्ति ही है। इस भक्ति को कृष्ण वेदोक्त आचरण से ऊँचे स्तर पर रखता है। वेदोक्त कर्म करने वाला अपनी कमाई को भोग कर फिर कर्म क्षेत्र में लौट आता है, कृष्ण भक्त को लौटना नहीं पड़ता।

शुभ कर्मों और भक्ति के सापेक्ष मूल्य की बावत ९: ३०, ३१ में कहा है।

यदि कोई बड़ा दुराचारी भी भक्ति भाव से मुझे भजता है, तो उसे साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है। वह जल्दी ही धर्मात्मा हो जाता है और स्थायी शान्ति को प्राप्त होता है; मेरा भक्त विनष्ट नहीं होता।

पहले श्लोक में तो कहा है कि भक्त की हालत में दुराचार की पूरी उपेक्षा करनी चाहिये; उसकी भक्ति ही पर्याप्त है। दूसरे श्लोक में कहा है कि भक्ति दुराचारी को शीघ्र ही बदल देती हैं। क्रिया और भाव असंबद्ध अंश नहीं, एक ही चेतना के पक्ष हैं।

१२ वें अध्याय के अन्तिम श्लोकों में कृष्ण ने ऐसे मनुष्य के आचार और आचरण का चित्र दिया है, जो उसे प्यारा है। कृष्ण को प्यार करने वाले तो बहुतेरे हैं; इन श्लोकों में कहा गया है कि कृष्ण किन लोगों को अपने प्रेम का पात्र समझता है। यह तो हम आशा करते ही हैं कि ऐसा पुरुष कृष्ण भक्त हो।

यह भक्ति कहाँ तक जाती है ?

कृष्ण-भक्त अपने मन और बुद्धि को कृष्ण के अर्पण कर देता है; स्वाधीन विचार का अधिकार छोड़ देता है।

कृष्ण-भक्त हर प्रकार के 'आरंभ' को त्याग
शिखर के कर्म हमारे संकल्प का फल होते हैं; कृष्ण-भक्त
हो जाता है। इस आरम्भ-त्याग के साथ उसका
हो जाता है।

नैतिक जीवन में प्रमुख भेद शुभ और अशुभ का
लिये यह भेद भी नहीं रहता; वह शुभ और अशुभ दोनों का

चेतना में ज्ञान, क्रिया और भाव तीन पक्ष होते हैं; कृष्ण-भक्त भावमय ही हो जाता है।

जो चिन्ह कृष्ण के प्यारे के आचार और आचरण में विद्यमान होते हैं, उन्हें अध्याय के अन्तिम श्लोक में 'धर्ममय अमृत' का नाम दिया गया है। देखिये :—

'जो मनुष्य किसी से द्वेष नहीं करता, सब प्राणियों को मित्र भाव से देखता है, करुणा करता है; जो मोह और अहंकार से विमुक्त है, दुख-सुख में समान है, क्षमा करता है; जो सदा सन्तुष्ट है, योगी है, संयमी है, दृढ़ निश्चयी है—ऐसा मेरा भक्त जिसने मन और बुद्धि को मेरे अर्पण कर दिया है, मुझे प्यारा है।

जो कामनारहित, शुद्ध, चतुर, पक्षपातरहित, अभय है; जिसने स्वाधीन क्रिया (आरंभ) को छोड़ दिया है; ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा है।

जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है; जो शोक नहीं करता, कामना नहीं करता, जो शुभ और अशुभ को त्याग चुका है—ऐसा भक्त मुझे प्यारा है।

जो शत्रु और मित्र में भेद नहीं करता, जो मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुख में समान रहता है, जो आसक्ति से विमुक्त है; जो निन्दा और स्तुति को तुल्य देखता है, ध्यान में लगा रहता है, जो कुछ मिल जाये, उस पर सन्तुष्ट है, जिसका घरघाट नहीं, जिसकी मति स्थिर है, जो भक्तिमान है. वह मनुष्य मुझे प्यारा है।

और जो श्रद्धावान मेरे भक्त ऊपर कहे हुये धर्ममय अमल का सेवन करते हैं; वह मुझे बहुत प्यारे हैं।' (१२: १३, २०)

इन श्लोकों के पाठ से पता लगता है कि कृष्ण ने अपने प्यारे के जीवन में आचरण की अपेक्षा आचार को अधिक महत्व दिया है। अनन्य भक्त की हालत में होना भी ऐसा ही चाहिये; वह हर प्रकार के आरंभ को त्याग चुका है; शुभ और अशुभ में उसके लिये कोई भेद नहीं रहा। उपनिषद में स्वाध्याय, यज्ञ, दान और